

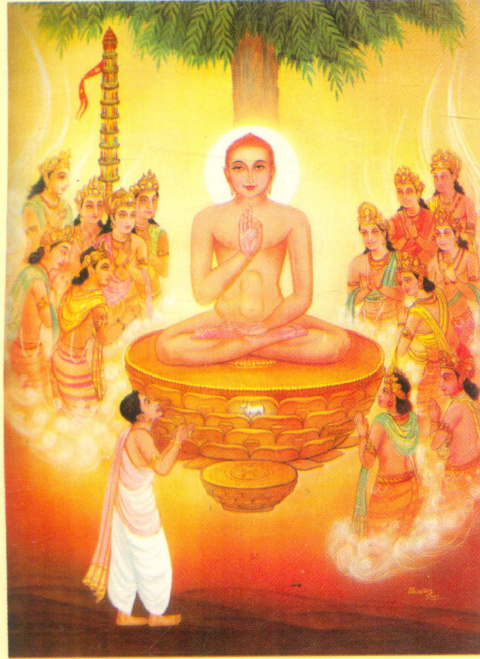
श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXVI

No. III

July-September, 2015



यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय-तत्त्व-बोधाद्-उद्भूत-बुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय चित्त-हरैरुदारैः स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥ 2॥

भक्तामरस्तोत्र-2



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

Established : 1937

श्रमण

ŚRAMAᅇA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXVI

No. III

July-September, 2015

Editor

Dr. Shriprakash Pandey

Associate Editors

Dr. Rahul Kumar Singh

Dr. Om Prakash Singh



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

(Established: 1937)

*(Recognized by Banaras Hindu University
as an External Research Centre)*

ADVISORY BOARD

Dr. Shugan C. Jain

New Delhi

Prof. Cromwell Crawford

Univ. of Hawaii

Prof. Anne Valley

Univ. of Ottawa, Canada

Prof. Peter Flugel

SOAS, London

Prof. Christopher Key Chapple

Univ. of Loyola, USA

Prof. Ramjee Singh

Bheekhampur, Bhagalpur

Prof. Sagarmal Jain

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

Prof. K.C. Sogani

Chittaranjan Marg, Jaipur

Prof. D.N. Bhargava

Bani Park, Jaipur

Prof. Prakash C. Jain

JNU, Delhi

EDITORIAL BOARD

Prof. M.N.P. Tiwari

B.H.U., Varanasi

Prof. K. K. Jain

B.H.U., Varanasi

Dr. A.P. Singh, Ballia

Prof. Gary L. Francione

New York, USA

Prof. Viney Jain, Gurgaon

Dr. S. N. Pandey

PV, Varanasi

ISSN: 0972-1002

SUBSCRIPTION

Annual Membership

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30

Life Membership

For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

Membership fee & articles can be sent in favour of
Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

PUBLISHED BY

Shri Indrabhooti Barar, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road,
Karaundi, Varanasi 221005, Ph. 0542-2575890

Email: pvjvaranasi@gmail.com

Theme of the Cover:

Bhaktāmara-stotra, verse-2 based picture, Yantra & Mantra

With curtesy : Sacitra Bhaktāmara-stotra by Shri Sushil Suri

NOTE: The facts and views expressed in the Journal are those of authors
only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

Printed by- Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

सम्पादकीय

आजकल देश में संलेखना पर काफी चर्चायें चल रही हैं। कारण है- राजस्थान उच्च न्यायालय का १० अगस्त २०१५ को दिया गया वह निर्णय जिसमें माझरी उच्च न्यायालय ने जैन धर्म में बहुप्रचलित संलेखना या संथारा की प्रथा को जीने के मूल अधिकार के तहत मानने से इनकार कर दिया। इतना ही नहीं, न्यायालय ने संलेखना या संथारा करनेवालों पर आत्महत्या तथा ऐसा करने के लिये प्रेरित करनेवालों पर आत्महत्या के लिये उकसाने के लिये भारतीय दण्ड संहिता की धारा ३०६ व ३०९ के तहत केस दर्ज कर कार्यवाही करने का आदेश दिया। न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि जीने के अधिकार में मरने का अधिकार शामिल नहीं है। मुख्य न्यायाधीश सुनील अम्बवानी तथा न्यायाधीश वीरेन्द्र सिंह सिंराधना की संयुक्त पीठ ने यह निर्णय अधिवक्ता निखिल सोनी की जनहित याचिका निस्तारित करते हुये दिया।

न्यायालय ने संलेखना को आत्महत्या के समान अपराध माना। न्यायाधीशद्वय ने अपने निर्णय में कहा कि संलेखना या संथारा को धार्मिक आस्था बतानेवाले धर्मग्रन्थ, प्रवचन, लेख या जैन मुनियों की मान्यता का दस्तावेज पेश नहीं कर पाये। वे ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं दे सके जिससे स्पष्ट होता हो कि भारतीय संविधान लागू होने से पूर्व संथारा या संलेखना को अपनाया जाता रहा हो। संविधान ने हमें कई स्वतन्त्रता दी है, किन्तु जीने के मूल अधिकार के तहत किसी का जीवन लेना शामिल नहीं है और न ही ऐसा अधिकार धार्मिक स्वतन्त्रता के तहत दिया गया है। धार्मिक स्वतन्त्रता के तहत ऐसी कोई प्रथा या बाध्यता नहीं है, जो जान लेने का अधिकार देती हो। इसलिये इसकी मंजूरी नहीं दी जा सकती।

राजस्थान उच्च न्यायालय के इस निर्णय के खिलाफ जैन समाज की तीखी प्रतिक्रिया हुई। यहां तक कि अजैन संगठनों ने भी न्यायालय के इस निर्णय को बरें के छत्ते में हाथ डालने की संज्ञा दी। इस निर्णय से जैन जन भावना आहत हुई है। संलेखना की अत्यन्त प्राचीन और पवित्र प्रथा जो जैन धर्म में सदियों से चली आ रही है, उसे एक निर्णय के द्वारा आत्महत्या के समकक्ष ला खड़ा करना, एक प्रकार के बौद्धिक द्रीवालियापन के अलावा कुछ नहीं है। इसप्रकार का निर्णय देने के पहले उस व्यक्ति अथवा संस्था को उस विशेष परम्परा के इतिहास और धर्म-दर्शन का पूरा ज्ञान अपेक्षित है। माननीय न्यायालय ने यदि जैन साहित्य, इतिहास एवं परम्परा का अध्ययन किया होता तो शायद इसप्रकार का फैसला नहीं आया होता।

किसी भी रूप में संलेखना को आत्महत्या से समीकृत नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि संलेखना और आत्महत्या दोनों में स्वेच्छापूर्वक शरीर-त्याग किया जाता है और इसीलिये सामान्यतया यह समझ लिया जाता है कि दोनों एक हैं, किन्तु जैन दर्शन में शरीर त्याग का समर्थन नैतिक दृष्टि से उचित माना गया है। संलेखना की भावना एक अत्यन्त उदात्त भावना है। जबकि आत्महत्या की भावना एक अत्यन्त निकृष्ट भावना है।

व्यक्ति आत्महत्या या तो क्रोध, आवेश, आवेग में आकर या सम्मान अथवा आत्महितों पर गहरी चोट पहुंचने अथवा जीवना से पूर्णतया निराश हो जाने पर करता है। ये सभी चित्त की सांवेगिक अवस्थाएँ हैं। जबकि संलेखना चित्त के समत्व की अवस्था है। संलेखना में साधक मृत्यु का वरण स्वेच्छा से मन की सभी सांवेगिक अवस्थाओं से मुक्त होने के बाद ही करता है।

जैन दार्शनिकों ने आत्महत्या को जघन्य पाप माना है। आत्महत्या या बलिदान में मृत्यु को निमन्त्रण दिया जाता है। व्यक्ति जानता है कि उसे मरना है, वह मरने की इच्छा करता है, जबकि संलेखना में मरणाकांक्षा का सर्वथा अभाव होता है। संलेखना या समाधिमरण के प्रतिज्ञासूत्र में ही साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि “काल अकंखमाणं विहरामि” अर्थात् मैं मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर आत्ममरण करूंगा। अतः संलेखना को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता।

जैन विचारकों ने इसीलिये सामान्य स्थिति में शस्त्रवध, अग्निप्रवेश या गिरिपतन आदि साधनों द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण को अनुचित माना है क्योंकि उनके पीछे कहीं न कहीं मरने की इच्छा रहती है। संलेखना में आहारादि के त्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, मात्र देह-पोषण का विसर्जन किया जाता है। मृत्यु उसका परिणाम अवश्य है किन्तु उसकी आकांक्षा नहीं।

आत्महत्या के मूल में कायरता का अशुभ भाव है। आत्महत्या वही करता है जो जीवन के झंझावातों से जूझते हुये हारकर, जीवन से ऊबकर, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अन्त में शरीर त्याग का निर्णय लेता है, जबकि संलेखना में साधक जीवन से भागता नहीं बल्कि स्वेच्छा और प्रसन्नता से जीवन की अन्तिम बेला में दहलीज पर खड़ी मृत्यु का वरण करता है। वह आत्मबलिदान भी नहीं है क्योंकि आत्मबलिदान में भावना का अतिरेक होता है। जैसे किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाने पर उसकी चिता के साथ उसका सती हो जाना अथवा अपने आराध्य को प्रसन्न करने हेतु आत्मबलि देना, इसप्रकार की घटनाओं में भावना का प्रबल अतिरेक होता है। इसलिये वह नैतिक नहीं है जबकि संलेखना एक नैतिक कृत्य है।

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक जैसे जैन ग्रन्थों में आत्महत्या और संलेखना या समाधिमरण का अन्तर स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि जहां आत्महत्या व्यक्ति बलपूर्वक अपनी आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध करता है, वहीं संलेखना के लिये व्यक्ति स्वतः प्रेरित होता है। पूर्व न्यायाधीश टी. के टुकोल ने भी आत्महत्या में व्यक्ति के आवेश या आवेग को ही प्रमुख कारण माना है। उन्होंने लिखा है कि संलेखना व्यक्ति जीवन-मरण के चक्र से दूर रहने अथवा मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से अनशन व्रत का सहारा लेकर अथवा अन्न-जल को क्रमशः छोड़कर करता है, वहीं आत्महत्या में व्यक्ति उसके सामने प्रस्तुत परिस्थितियों यथा- अपमान, अपराधबोध, असफलता, भावनात्मक लगाव आदि से

बचने के लिये बाह्यविधियों की सहायता जैसे- आग लगाकर, पानी में डूबकर, पंखे से लटककर, विषपान आदि का सहारा लेकर शरीर त्याग करता है।

न्यायालय ने जो दलील दी कि संलेखना या संथारा को धार्मिक आस्था बतानेवाले धर्मग्रन्थ, प्रवचन, लेख या जैन मुनियों की मान्यता का दस्तावेज पेश नहीं कर पाये। शायद न्यायालय ने जैन धर्म ग्रन्थों में पाये जानेवाले संलेखना के विवरण को पढ़ने की जहमत न उठाई हो वरना जैन आगमों और आगमेतर साहित्य ऐसे साधकों की जीवन गाथाओं से भरे-पटे हैं जिन्होंने संलेखना या समाधिमरण व्रत लिया था। अन्तकृतदशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग तथा उपासकदशांग में आनन्द आदि उन गृहस्थ साधकों का जीवन दर्शन उपलब्ध है जिन्होंने अपने जीवन के अन्तिम समय में संलेखनाव्रत लिया था। इसके अतिरिक्त आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन, पंचाशक, रत्नकरण्डश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, तथा महाप्रत्याख्यान, समाधिमरण जैसे अनेक प्रकीर्णक ग्रन्थों में संलेखना की गहन चर्चा है। ऐसे में न्यायालय का यह कहना कि इसे प्रमाणित करनेवाले ग्रन्थों का पुरावा नहीं दिया गया, हास्यास्पद लगता है।

इस सन्दर्भ में अनेक जैन अभिलेख मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि अनेक आचार्यों, मुनियों, राजाओं, श्रेष्ठियों तथा श्रावकों ने प्रशान्तभाव से अपने जीवन के अन्तिम समय में प्रसन्नता पूर्वक संलेखनाव्रत ग्रहण किया था। श्रवणबेलगोल की पहाड़ियों पर अनेक आचार्यों ने संथारा पूर्वक अपना शरीर त्याग किया था। अभिलेखों से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने जैन श्रमण दीक्षा लेकर अपने जीवन के अन्तिम समय में संथारा लिया था। अतः प्राचीन काल से लेकर आज तक यह परम्परा निर्बाध रूप से अस्तित्व में है और आगे भी रहेगी।

आचार्य विनोवाभावे ने अपने जीवन के अन्तिम समय में १५५ घंटे का संथारा लिया था। क्या उसे आत्महत्या कहा जायेगा? अतः आत्महत्या और संलेखना में बहुत बड़ा अन्तर है और किसी भी रूप में संलेखना को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता।

‘श्रमण’ के इस अंक में हमने सामान्य लेखों के अतिरिक्त समसामयिक विषय ‘संलेखना’ पर कुछ आधिकारिक विद्वानों के लेखों का समावेश किया है जो इसकी परम्परा पर विस्मय प्रकाश डालेंगे। इन विद्वानों ने बड़ी गम्भीरता से इस प्रथा और वर्तमान में इसके प्रचलन के गुण-दोषों की भी उचित समीक्षा की है। इन लेखों पर आपकी प्रतिक्रिया की अपेक्षा रहेगी।

- सम्पादक

Our Contributors

१. **Prof. Sagarmal Jain**
Founder Director : Prācyā Vidyāpīṭha, Shajapur, (M P)
२. **Āgama-jñāna Ratnākara Shri Jaymuniji Maharaj**
Desciple of Sthānakavāsī Jaina Saṅgha Śāstā
Pujya Shri Sudarshanlalji Maharaj, S. S. Jaina Sabha,
Gannaur, (Sonipat)
३. **Dr. Samani Malliprajna**
Principal, Acharya Kalu Kanya Mahavidyalaya,
J.V.B. Sansthan, Ladnun
४. **Dr. Rahul Kumar Singh**
Research Associate, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi
5. **Dr. Anil Kumar Singh**
Principal, Maharana Pratap Degree College,
Mohaniya (Bihar)
6. **Dr. Samani Shashiprajna**
Associate Professor, Dept. of Jainology and Comparative
Religion and Philosophy, Jaina Vishva Bharati, Ladnun
7. **Dr. Shanti Swaroop Sinha**
Assistant Professor, Dept. of Visual Arts, Banaras Hindu
University
8. **Dr. P. M. Upadhye**
Former Head, Dept. of Sanskrit & Prakrit, Parle College,
Mumbai
9. **Dr. Shriprakash Pandey**
Joint Director, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

Contents

१. जैन धर्म-दर्शन में समाधिमरण आत्महत्या नहीं
प्रो० सागरमल जैन १-१२
 २. पवित्र परम्परा संधारा : एक संक्षिप्त चर्चा १३-२९
आगम ज्ञान रत्नाकर श्री जय मुनिजी महाराज
 ३. संवेग के मूल रहस्य की जैन दृष्टि ३०-४१
डॉ० समणी मल्लिप्रज्ञा
 ४. जैनाचार्यों द्वारा संस्कृत में प्रणीत
आयुर्वेद-साहित्य ४२-५३
डॉ० राहुल कुमार सिंह
 ५. जैन आचार का स्वरूप एवं लक्ष्य ५४-६०
डॉ. अनिल कुमार सिंह
 6. **CONCEPT OF SANTHĀRĀ
(SAMĀDHIMARĀṆA) IN JAINISM** 61-82
Dr. Samani Shashiprajna
 7. **UNIQUE JAINA SITE DEOGARH
AND ITS PĀRŚVANĀTHA IMAGES:
SOME FEATURES** 83-90
Dr. Shanti Swaroop Sinha
 8. **PRAVACANASĀRA AND
VEDĀNTA THOUGHT** 91-93
Dr. P. M. Upadhye
 9. **PROBLEM OF SIMULTANEOUS OCCURRENCE
OF JÑĀNA AND DARŚANA IN JAINISM** 94-99
Dr. Shriprakash Pandey
- विद्यापीठ के प्रांगण में १००-१०२
- जैन जगत् १०२
- पुस्तक समीक्षा १०३-१०४

जैन धर्म-दर्शन में समाधि-मरण आत्महत्या नहीं

प्रो० सागरमल जैन

जैन-परम्परा के सामान्य आचार-नियमों में संलेखना (स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण) एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। जैन गृहस्थ उपासकों एवं श्रमण साधकों, दोनों के लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का विधान जैन आगमों में उपलब्ध है। जैनागम-साहित्य ऐसे साधकों की जीवन-गाथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने स्वेच्छया मरण का व्रत अंगीकार किया था। अन्तकृतदशांग एवं अनुत्तरोपपातिक सूत्रों में उन श्रमण साधकों का और उपासकदशांगसूत्र में आनन्द आदि उन गृहस्थ साधकों का जीवन-दर्शन वर्णित है, जिन्होंने जीवन की सांध्य-वेला में स्वेच्छा-मरण का व्रत स्वीकारा था। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार मृत्यु के दो रूप हैं- १. स्वेच्छामरण या निर्भयतापूर्वक मृत्युवरण और २. अनिच्छामरण या भयपूर्वक मृत्यु से ग्रसित होना^१। स्वेच्छा-मरण में मनुष्य का मृत्यु पर शासन होता है, जबकि अनिच्छापूर्वक मरण में मृत्यु मनुष्य पर शासन करती है। पहले को पण्डितमरण या समाधि-मरण भी कहा गया है और दूसरे को बाल (अज्ञानी) मरण या असमाधि-मरण कहा गया है। एक ज्ञानीजन की मौत है और दूसरी अज्ञानी की, अज्ञानी विषयासक्त होता है और इसलिए वह एक ही बार मरता है^२ जो मृत्यु से भय खाता है, उससे बचने के लिए भागा-भागता फिरता है, मृत्यु भी उसका बराबर पीछा करती रहती है, लेकिन जो निर्भय होकर मृत्यु का स्वागत करता है और उसका आलिङ्गन करता है, मृत्यु भी उसका पीछा नहीं करती। जो मृत्यु से भय खाता है वही मृत्यु का शिकार होता है, लेकिन जो मृत्यु से निर्भय हो जाता है वह अमरता की दिशा में आगे बढ़ जाता है। साधकों के प्रति महावीर का सन्देश यही था कि मृत्यु के उपस्थित होने पर शरीरादि से अनासक्त होकर उसका आलिङ्गन करो।^३ महावीर के दर्शन में अनासक्त जीवन-शैली की यही महत्त्वपूर्ण कसौटी है। जो साधक मृत्यु से भागता है वह सच्चे अर्थ में अनासक्त जीवन जीने की कला से अनभिज्ञ है। जिसे अनासक्त मृत्यु की कला नहीं आती, उसे अनासक्त जीवन की कला भी नहीं आ सकती। इसी अनासक्त मृत्यु की कला को संलेखना व्रत कहा गया है। जैन-परम्परा में संथारा, संलेखना, समाधि-मरण, पण्डित-मरण और सकाम-मरण^४ आदि स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण के ही पर्यायवाची नाम हैं। आचार्य समन्तभद्र संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि 'आपत्तियों, अकालों, अतिवृद्धावस्था एवं असाध्य रोगों में शरीर त्याग करना संलेखना है'^५। अर्थात् जब मृत्यु अनिवार्य-सी हो गयी हो उन स्थितियों में निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करना ही संलेखना-व्रत है।

समाधिमरण के भेद

जैनागमों में मृत्युवरण के अवसरों की अपेक्षा के आधार पर समाधिमरण के दो प्रकार कहे गये हैं- १. सागारी संथारा और २. सामान्य संथारा।

सागारी संथारा - अकस्मात् जब कोई ऐसी विपत्ति उपस्थित हो जाय कि जिसमें से जीवित बच निकलना सम्भव न हो, जैसे आग में घिर जाना, जल में डूबने जैसी स्थिति हो जाना अथवा हिंसक पशु या किसी ऐसे दुष्ट व्यक्ति के अधिकार में फँस जाना, जहाँ सदाचार से पतित होने की संभावना हो- ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है उसे सागारी संथारा कहते हैं। यदि व्यक्ति उस विपत्ति या संकटपूर्ण स्थिति से बाहर हो जाता है तो वह पुनः देहरक्षण तथा जीवन के सामान्य क्रम को चालू रख सकता है। सागारी संथारा मृत्यु पर्यन्त के लिए नहीं, वरन् परिस्थिति-विशेष के लिए होता है, अतः परिस्थिति विशेष के समाप्त हो जाने पर उस व्रत की मर्यादा भी समाप्त हो जाती है।

सामान्य संथारा - जब स्वाभाविक जरावस्था अथवा असाध्य रोग के कारण पुनः स्वस्थ होकर जीवित रहने की समस्त आशाएँ धूमिल हो गयी हों, तब यावज्जीवन तक जो देहासक्ति एवं शरीर-पोषण के प्रयत्नों का त्याग किया जाता है वह सामान्य संथारा है। यह यावज्जीवन के लिए होता है अर्थात् देहपात पर ही पूर्ण होता है। सामान्य संथारा ग्रहण करने के लिए जैनागमों में निम्न स्थितियाँ आवश्यक मानी गयी हैं- जब संभो इन्द्रियाँ अपने कार्यों का सम्पादन करने में अक्षम हो गयी हों, जब शरीर सूख कर अस्थिपंजर रह गया हो, पचन-पाचन, आहार-विहार आदि शारीरिक क्रियाएँ शिथिल हो गयी हों और इनके कारण साधना और संयम का परिपालन सम्यक् रीति से होना सम्भव न रहा हो, तभी अर्थात् मृत्यु के उपस्थित हो जाने पर ही सामान्य संथारा ग्रहण किया जा सकता है। सामान्य संथारा के तीन प्रकार हैं- (अ) भक्तप्रत्याख्यान- आहार आदि का त्याग कर देना (ब) इंगिनमरण- एक निश्चित भू-भाग पर हलन-चलन आदि शारीरिक क्रियाएँ करते हुए आहार आदि का त्याग करना, (स) पादोपगमन- आहार आदि के त्याग के साथ-साथ शारीरिक क्रियाओं का निरोध करते हुए मृत्युपर्यन्त निश्चल रूप से लकड़ी के तख्ते के समाने स्थिर पड़े रहना। उपर्युक्त सभी प्रकार के समाधिमरणों में मन का समभाव में स्थित होना अनिवार्य है।

समाधिमरण ग्रहण करने की विधि

जैनागमों में समाधिमरण ग्रहण करने की विधि भी बतायी गयी है। सर्वप्रथम मल-मूत्रादि अशुचि विसर्जन के स्थान का अवलोकन कर नरम तृणों की शय्या तैयार कर

ली जाती है। तत्पश्चात् सिद्ध, अरहन्त और धर्माचार्यों को विनयपूर्वक नमस्कार कर पूर्वगृहीत प्रतिज्ञाओं में लगे हुए दोषों की आलोचना और उनका प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। इसके बाद समस्त प्राणियों से क्षमा-याचना की जाती है और अन्त में अठारह पापस्थानों, अत्रादि चतुर्विध आहारों का त्याग करके शरीर के ममत्व एवं पोषण-क्रिया का विसर्जन किया जाता है। साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं पूर्णतः हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से विरत होता हूँ, अन्न आदि चारों प्रकार के आहार का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मेरा यह शरीर जो मुझे अत्यन्त प्रिय था, मैंने इसकी बहुत रक्षा की थी, कृपण के धन के समान इसे संभालता रहा था, इस पर मेरा पूर्ण विश्वास था (कि यह मुझे कभी नहीं छोड़ेगा), इसके समान मुझे अन्य कोई प्रिय नहीं था, इसलिए मैंने इसे शीत, गर्मी, क्षुधा, तृषा आदि अनेक कष्टों एवं विविध रोगों से बचाया, और सावधानीपूर्वक इसकी रक्षा करता रहा, अब मैं इस देह का विसर्जन करता हूँ और इसके पोषण एवं रक्षण के प्रयासों का परित्याग करता हूँ।^६

बौद्ध परम्परा में मृत्युवरण

यद्यपि बुद्ध ने जैन परम्परा के समान ही धार्मिक आत्महत्याओं को अनुचित माना है, तथापि बौद्ध-वाङ्मय में कुछ ऐसे सन्दर्भ अवश्य हैं जो स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हैं। संयुतनिकाय में असाध्य रोग से पीड़ित भिक्षु वक्कलि कुलपुत्र^७ तथा भिक्षु छत्र द्वारा की गयी आत्महत्या का समर्थन बुद्ध ने किया था और उन्हें निर्दोष कहकर दोनों ही भिक्षुओं को परिनिर्वाण प्राप्त करनेवाला बताया था। जापानी बौद्धों में तो आज भी 'हरीकरी' की प्रथा मृत्युवरण की सूचक है।

फिर भी जैन और बौद्ध परम्पराओं में मृत्युवरण के प्रश्न को लेकर कुछ अन्तर भी है। जैन परम्परा के विपरीत बौद्ध परम्परा में शस्त्रवध से तत्काल ही मृत्युवरण कर लिया जाता है। जैन आचार्यों ने शस्त्रवध आदि के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण का विरोध इसलिए किया था कि उन्हें उसमें मरणाकांक्षा की सम्भावना प्रतीत हुई। यदि मरणाकांक्षा नहीं है, तो फिर मरण के लिए इतनी आतुरता क्यों? अतः जहाँ बौद्ध परम्परा शस्त्र के द्वारा की गयी आत्महत्या का समर्थन करती है, वहाँ जैन परम्परा उसे अस्वीकार करती है। इस सन्दर्भ में बौद्ध परम्परा वैदिक परम्परा के अधिक निकट है।

वैदिक परम्परा में मृत्यु-वरण

सामान्यतया हिन्दू धर्म-शास्त्रों में आत्महत्या को महापाप माना गया है। पाराशरस्मृति में कहा गया है कि जो क्लेश, भय, घमण्ड और क्रोध के वशीभूत होकर आत्महत्या

करता है, वह साठ हजार वर्ष तक नरकवास करता है।¹ महाभारत के आदिपर्व के अनुसार भी आत्महत्या करनेवाला कल्याणप्रद लोकों में नहीं जा सकता है।² लेकिन इनके अतिरिक्त हिन्दू धर्म-शास्त्रों में ऐसे भी अनेक उल्लेख हैं जो स्वेच्छा-पूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हैं। प्रायश्चित्त के निमित्त से मृत्युवरण का समर्थन मनुस्मृति (११.९०-९१), याज्ञवल्क्यस्मृति (३.२५३), गौतमस्मृति (२३.१), वासिष्ठ धर्मसूत्र (२०.२२, १३.१४) और आपस्तम्बसूत्र (१.९.२५.१-३, ६) में भी है। इतना ही नहीं, हिन्दू धर्म-शास्त्रों में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ मृत्युवरण को पवित्र एवं धार्मिक आचरण के रूप में देखा गया है। महाभारत के अनुशासनपर्व (२५.६२-६४), वनपर्व (८५.८३) एवं मत्स्यपुराण (१८६.३४, ३५) में अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या उपवास आदि के द्वारा देह त्याग करने पर ब्रह्मलोक या मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा माना गया है। अपरार्क ने प्राचीन आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि कोई गृहस्थ असाध्य रोग से पीड़ित हो, अतिवृद्ध हो, किसी इन्द्रिय से उत्पन्न आनन्द का अभिलाषी न हो, जिसने अपने कर्तव्य पूर्ण कर लिये हों, वह महाप्रस्थान, अग्नि या जल में प्रवेश करके अथवा पर्वत-शिखर से गिरकर अपने प्राणों का विसर्जन कर सकता है। ऐसा करके वह कोई पाप नहीं करता। उसकी मृत्यु तो तपों से भी बढ़कर है। शास्त्रानुमोदित कर्तव्यों के पालन में अशक्त होने पर जीने की इच्छा रखना व्यर्थ है।³ श्रीमद्भागवत के ११वें स्कन्ध के १८वें अध्याय में भी स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है। वैदिक परम्परा में स्वेच्छा-मृत्युवरण का समर्थन न केवल शास्त्रीय आधारों पर हुआ है, वरन् व्यावहारिक जीवन में भी इसके अनेक उदाहरण वैदिक परम्परा में उपलब्ध हैं। महाभारत में पाण्डवों के द्वारा हिमालय-यात्रा में किया गया देहपात मृत्युवरण का ही उदाहरण है। डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे ने वाल्मीकि रामायण एवं अन्य वैदिक धर्मग्रन्थों तथा शिलालेखों के आधार पर शरभंग, महाराजा रघु, कलचुरी के राजा गांगेय, चन्देलकुल के राजा गंगदेव, चालुक्यराज सोमेश्वर आदि के स्वेच्छा-मृत्युवरण का उल्लेख किया है।⁴ प्रयाग में अक्षयवट से कूदकर गंगा में प्राणान्त करने की प्रथा तथा काशी में करौत लेने की प्रथा वैदिक परम्परा में मध्य युग तक प्रचलित थी। यद्यपि ये प्रथाएँ आज नामशेष हो गयी हैं, तथापि वैदिक संन्यासियों द्वारा जीवित समाधि लेने की प्रथा आज भी जनमानस में श्रद्धा का केन्द्र है।⁵

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैन और बौद्ध परम्पराओं में, बल्कि वैदिक परम्परा में भी मृत्युवरण का समर्थन है। लेकिन जैन और वैदिक परम्पराओं में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक परम्परा में जल एवं अग्नि में प्रवेश, गिरि-शिखर से

गिरना, विष या शस्त्र प्रयोग आदि विविध साधनों से मृत्युवरण का विधान है, वहाँ जैन परम्परा में सामान्यतया केवल उपवास द्वारा ही देहत्याग का विधान है। जैन परम्परा शस्त्र आदि से होने वाली तात्कालिक मृत्यु की अपेक्षा उपवास द्वारा होने वाली क्रमिक मृत्यु को ही अधिक प्रशस्त मानती है। यद्यपि ब्रह्मचर्य की रक्षा आदि कुछ प्रसंगों में तात्कालिक मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है, तथापि सामान्यतया जैन आचार्यों ने मृत्युवरण जिसे प्रकारान्तर से आत्महत्या भी कहा जा सकता है, की आलोचना की है। आचार्य समन्तभद्र ने गिरिपतन या अग्निप्रवेश के द्वारा किये जाने वाले मृत्युवरण को लोकमूढ़ता कहा है।^{१४} जैन आचार्यों की दृष्टि में समाधिमरण का अर्थ मृत्यु की कामना नहीं, वरन् देहासक्ति का परित्याग है। जिस प्रकार जीवन की आकांक्षा दूषित है, उसी प्रकार मृत्यु की आकांक्षा भी दूषित कही गयी है।

समाधिमरण के दोष

जैन आचार्यों ने समाधिमरण के लिए निम्न पाँच दोषों से बचने का निर्देश किया है— १. जीवन की आकांक्षा, २. मृत्यु की आकांक्षा, ३. ऐहिक सुखों की कामना, ४. पारलौकिक सुखों की कामना और ५. इन्द्रिय विषयों के भोगों की आकांक्षा।

बुद्ध ने भी जीवन की तृष्णा और मृत्यु की तृष्णा दोनों को ही अनैतिक माना है। बुद्ध के अनुसार भवतृष्णा और विभव तृष्णा क्रमशः जीविताशा और मरणाशा की प्रतीक हैं और जब तक ये आशाएँ या तृष्णाएँ उपस्थित हैं, तब तक नैतिक पूर्णता सम्भव नहीं है। अतः साधक को इनसे बचके ही रहना चाहिए। फिर भी यह पूछा जा सकता है कि क्या समाधिमरण मृत्यु की आकांक्षा नहीं है?

समाधिमरण और आत्महत्या

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में जीविताशा और मरणाशा दोनों को ही अनुचित कहा गया है।^{१५} यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि क्या समाधिमरण मरणाकांक्षा या आत्महत्या नहीं है? वस्तुतः समाधिमरण न तो मरणाकांक्षा है और न आत्महत्या ही। व्यक्ति आत्महत्या या तो क्रोध के वशीभूत होकर करता है या फिर सम्मान या हितों पर गहरी चोट पहुँचने अथवा जीवन से निराश हो जाने पर करता है, लेकिन यह सभी चित्त की सांवेगिक अवस्थाएँ हैं, जबकि समाधिमरण तो चित्त की समत्व अवस्था है। अतः उसे आत्महत्या नहीं कह सकते। दूसरे, आत्महत्या या आत्म-बलिदान में मृत्यु को निमन्त्रण दिया जाता है। व्यक्ति के अन्तस् में मरने की इच्छा छिपी रहती है, लेकिन समाधिमरण में मरणाकांक्षा का न रहना ही अपेक्षित है, क्योंकि समाधिमरण के प्रतिज्ञासूत्र में ही साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि मृत्यु

की आकांक्षा से रहित होकर आत्मरमण करूँगा (काल अकंखमाणे विहरामि)। यदि समाधिमरण में मरने की इच्छा ही प्रमुख होती तो उसके प्रतिज्ञासूत्र में इन शब्दों के रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। जैन विचारकों ने तो मरणाशंसा को समाधिमरण का दोष ही कहा है। अतः समाधिमरण को आत्महत्या नहीं कह सकते। जैन विचारकों ने इसीलिए सामान्य स्थिति में शस्त्रवध, अग्निप्रवेश या गिरिपतन आदि के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण को अनुचित ही माना है, क्योंकि ऐसा करने में मरणाकांक्षा की सम्भावना है। समाधिमरण में आहारदि के त्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, मात्र देह पोषण का विसर्जन किया जाता है। मृत्यु उसका परिणाम अवश्य है, लेकिन उसकी आकांक्षा नहीं। जैसे फोड़े की चीरफाड़ से वेदना अवश्य होती है, लेकिन उसमें वेदना की आकांक्षा नहीं होती है। एक जैन आचार्य का कहना है कि समाधिमरण की क्रिया, करण के निमित्त नहीं होकर उसके प्रतिकार के लिए है। जैसे व्रण का चीरना वेदना के लिए न होकर वेदना के प्रतिकार के लिए होता है।^{१६} यदि आपरेशन की क्रिया में हो जाने वाली मृत्यु हत्या नहीं है, तो फिर समाधिमरण में होने जाने वाली मृत्यु भी आत्महत्या कैसे हो सकती है? एक दैहिक जीवन की रक्षा के लिए है तो दूसरी आध्यात्मिक जीवन की रक्षा के लिए है, यही समाधिमरण और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है। आत्महत्या में व्यक्ति जीवन के संघर्षों से ऊबकर जीवन से भागना चाहता है, उसके मूल में कायरता है, जबकि समाधिमरण में देह और संयम की रक्षा के अनिवार्य विकल्पों में से संयम की रक्षा के विकल्प को चुनकर मृत्यु का साहसपूर्वक सामना किया जाता है। समाधिमरण में जीवन से भागने का प्रयास नहीं वरन् जीवन की संध्यावेला में द्वार पर खड़ी मृत्यु का स्वागत है। आत्महत्या में जीवन से भय होता है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु से निर्भयता होती है। आत्महत्या असमय में मृत्यु का आमन्त्रण है, जबकि संथारा या समाधिमरण मात्र मृत्यु के उपस्थित होने पर उसका सहर्ष आलिङ्गन है। आत्महत्या के मूल में या तो भय होता है या कामना होती है, जबकि समाधिमरण में भय और कामना दोनों की अनुपस्थिति आवश्यक होती है।

समाधिमरण आत्म-बलिदान भी नहीं है। शैव और शाक्त सम्प्रदायों में पशुबलि के समान आत्मबलि की प्रथा रही है, लेकिन समाधिमरण आत्म-बलिदान नहीं है क्योंकि आत्म-बलिदान भी भावना का अतिरेक है। भावातिरेक आत्म-बलिदान की अनिवार्यता है जबकि समाधिमरण में विवेक का प्रकटन आवश्यक है।

समाधिमरण के प्रत्यय के आधार पर आलोचकों ने यह कहने का प्रयास भी किया है कि जैन-दर्शन जीवन से इकरार नहीं करता, वरन् जीवन से इनकार करता है,

लेकिन गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह धारणा भ्रान्त सिद्ध होती है। उपाध्याय अमर मुनिजी लिखते हैं, “वह (जैनदर्शन) जीवन से इनकार नहीं करता, अपितु जीवन के मिथ्या मोह से इनकार करता है। जीवन जीने में यदि कोई महत्त्वपूर्ण लाभ है और वह स्व-पर की हित-साधना में उपयोगी है तो जीवन सर्वतोभावेन संरक्षणीय है।”^{१७} आचार्य भद्रबाहु कहते हैं- “साधक की देह संयम की साधना के लिए है। यदि देह ही नहीं रही तो संयम कैसे रहेगा, अतः संयम की साधना के लिये देह का परिपालन इष्ट है। देह का परिपालन संयम के निमित्त है, अतः देह का ऐसा परिपालन जिसमें संयम ही समाप्त हो जाय, किस काम का”^{१८} साधक का जीवन न तो जीने के लिए है, न मरण के लिए है। वह तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र की सिद्धि के लिए है। यदि जीवन से ज्ञानादि की सिद्धि एवं वृद्धि हो तो जीवन की रक्षा करते हुए वैसा करना चाहिए, किन्तु यदि जीवन से भी ज्ञानादि की अभीष्ट सिद्धि नहीं होती हो तो वह मरण भी साधक के लिए शिरसा श्लाघनीय है।^{१९}

समाधिमरण का मूल्यांकन

स्वेच्छामरण के विषय में पहला प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य को प्राणान्त करने का नैतिक अधिकार है? पं. सुखलालजी ने जैन दृष्टि से इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसका संक्षिप्त सार यह है कि जैनधर्म सामान्य स्थितियों में चाहे वह लौकिक हो या धार्मिक, प्राणान्त करने का अधिकार नहीं देता है, लेकिन जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण, इनमें से किसी एक को चुनने का समय आ गया हो तो देह का त्याग करके भी अपने विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचाना चाहिए; जैसे सती स्त्री दूसरा मार्ग न देखकर देहनाश के द्वारा भी अपने सतीत्व की रक्षा करती है। देह और संयम दोनों की समान भाव से रक्षा हो सके तो दोनों की ही रक्षा कर्तव्य है, पर जब एक की रक्षा का प्रश्न आये तो सामान्य व्यक्ति देह की रक्षा पसन्द करेंगे और संयम की उपेक्षा करेंगे, जबकि समाधिमरण का अधिकारी संयम की रक्षा की महत्त्व देगा। जीवन तो दोनों ही हैं- दैहिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए साधक को प्राणान्त या अनशन की इजाजत है, पामरों, भयभीतों और लालचियों के लिए नहीं। भयंकर दुष्काल आदि आपत्तियों में देह-रक्षा के निमित्त से संयम से पतित होने का अवसर यदि आ जाये अथवा अनिवार्य रूप से मरण लाने वाली बीमारियों के कारण खुद को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो और संयम और सद्गुण की रक्षा सम्भव न हो, तब मात्र समभाव की दृष्टि से संथारे या स्वेच्छामरण का विधान है।^{२०} यदि सद्गुणों की रक्षा के निमित्त देह का विसर्जन किया जाता है तो वह अनैतिक नहीं है। नैतिकता की रक्षा के लिए किया गया देह-विसर्जन अनैतिक कैसे होगा?

जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन गीता भी करती है। उसमें कहा गया है कि यदि जीवित रहकर (आध्यात्मिक सदगुणों के विनाश के कारण) अपकीर्ति की सम्भावना हो तो उस जीवन से मरण ही श्रेष्ठ है।^{२१}

काका कालेलकर लिखते हैं, “मृत्यु शिकारी के समान हमारे पीछे पड़े और हम बचने के लिए भागते जायें, यह दृश्य मनुष्य को शोभा नहीं देता। जीवन का प्रयोजन समाप्त हुआ, ऐसा देखते ही मृत्यु को आदरणीय अतिथि समझकर उसे आमन्त्रण देना, उसका स्वागत करना और इस तरह से स्वेच्छा-स्वीकृत मरण के द्वारा जीवन को कृतार्थ करना एक सुन्दर आदर्श है। आत्महत्या को नैतिक दृष्टि से उचित मानते हुए वे कहते हैं कि इसे हम आत्महत्या न कहें। निराश होकर, कायर होकर या डर के मारे शरीर छोड़ देना एक किस्म की हार ही है। उसे हम जीवन-द्रोह भी कह सकते हैं। सब धर्मों ने आत्महत्या की निन्दा की है, लेकिन जब मनुष्य सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन पूर्ण हुआ, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही, तब वह आत्मसाधना के अन्तिम रूप के तौर पर अगर शरीर छोड़ दे तो वह उसका हक है। मैं स्वयं व्यक्तिशः इस अधिकार का समर्थन करता हूँ।”^{२२}

समकालीन विचारकों में धर्मानन्द कोसम्बी और महात्मा गाँधी ने भी मनुष्य को प्राणान्त करने के अधिकार का समर्थन नैतिक दृष्टि से किया था। महात्माजी का कथन है कि जब मनुष्य पापाचार का वेग बलवत्तर हुआ देखता है और आत्महत्या के बिना अपने को पाप से नहीं बचा सकता, तब होने वाले पाप से बचने के लिए उसे आत्महत्या करने का अधिकार है।^{२३} कोसम्बीजी ने भी स्वेच्छामरण का समर्थन किया था और उसकी भूमिका में पं० सुखलालजी ने कोसम्बीजी की इच्छा को भी अभिव्यक्त किया था।^{२४}

काका कालेलकर स्वेच्छामरण को महत्वपूर्ण मानते हुए जैन परम्परा के समान ही कहते हैं, “जब तक यह शरीर मुक्ति का साधन हो सकता है तब तक अपरिहार्य हिंसा को सहन करके भी इसे चलाना चाहिए। जब हम यह देखें कि आत्मा के अपने विकास के प्रयत्न में शरीर बाधारूप ही है तब हमें उसे छोड़ना ही चाहिए। जो किसी भी हालत में जीना चाहता है उसकी शरीरनिष्ठा तो स्पष्ट है ही, लेकिन जो जीवन से ऊबकर अथवा केवल मरने के लिए मरना चाहता है, तो उसमें भी विकृत शरीरनिष्ठा है। जो मरण से डरता है और जो मरण ही चाहता है, वे दोनों जीवन का रहस्य नहीं जानते। व्यापक जीवन में जीना और मरना दोनों का अन्तर्भाव होता है। जिस तरह उन्मेष और निमेष दोनों क्रियाओं के मिलने से ही देखने की एक क्रिया पूरी होती है।”^{२५}

भारतीय नैतिक चिन्तन में केवल जीवन जीने की कला पर ही नहीं, वरन् उसमें जीवन की कला के साथ-साथ मरण की कला पर भी विचार हुआ है। नैतिक चिन्तन की दृष्टि से जीवन को कैसे जीना चाहिए, यही महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन् कैसे मरना चाहिए यह भी महत्त्वपूर्ण है। मृत्यु की कला जीवन की कला से भी महत्त्वपूर्ण है। आदर्श मृत्यु ही नैतिक जीवन की कसौटी है। जीना तो विद्यार्थी के सत्रकालीन अध्ययन के समान है, जबकि मृत्यु परीक्षा का अवसर है। हम जीवन की कमाई का अन्तिम सौदा मृत्यु के समय करते हैं। यहाँ चूके तो फिर पछताना होता है और इसी अपेक्षा से कहा जा सकता है कि जीवन की कला की अपेक्षा मृत्यु की कला अधिक मूल्यवान् है। भारतीय नैतिक चिन्तन के अनुसार मृत्यु का अवसर ऐसा अवसर है जब अधिकांश जन अपने भावी जीवन का चुनाव करते हैं। गीता का कथन है कि मृत्यु के समय जैसी भावना होती है, जीव वैसी ही योनि प्राप्त करता है।^{२६} जैन-परम्परा में खन्धक मुनि की कथा यही बताती है कि जीवन भर कठोर साधना करने वाला महान् साधक जिसने अपनी प्रेरणा एवं उद्बोधन से अपने सहचारी पांच सौ साधक शिष्यों को उपस्थित मृत्यु की विषम परिस्थिति में समत्व की साधना के द्वारा निर्वाण का अमृत पान कराया, वही साधक स्वयं की मृत्यु के अवसर पर क्रोध के वशीभूत होकर किस प्रकार अपने साधना पथ से विचलित हो गया। वैदिक परम्परा में जड़भरत का कथानक भी यही बताता है कि इतने महान् साधक को भी मरणवेला में हिरण पर आसक्ति रखने के कारण पशु-योनि में जाना पड़ा। ये कथानक हमारे सामने मृत्यु का मूल्य उपस्थित करते हैं। मृत्यु जीवन की साधना का परीक्षाकाल है, वह इस जीवन में लक्षोपलब्धि का अन्तिम अवसर और भावी जीवन की साधना का आरम्भ बिन्दु है। इस प्रकार वह अपने में दो जीवनों का मूल्य संजोए हुए है। मरण जीवन का अवश्यम्भावी अंग है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। वह जीवन का उपसंहार है, जिसे सुन्दर बनाना एक आवश्यक कर्तव्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्प्रति युग के प्रबुद्ध विचारक भी समाधिमरण को अनैतिक नहीं मानते हैं। अतः जैन धर्म पर लगाया जाने वाला यह आक्षेप कि वह जीवन के मूल्य को अस्वीकार करता है, उचित नहीं है। वस्तुतः समाधिमरण पर जो आक्षेप लगाये जाते हैं, उनका सम्बन्ध समाधिमरण से न होकर आत्महत्या से है। कुछ विचारकों ने समाधिमरण और आत्महत्या के वास्तविक अन्तर को नहीं समझा और इसी आधार पर समाधिमरण को अनैतिक कहने का प्रयास किया, लेकिन समाधिमरण या स्वेच्छामरण आत्महत्या नहीं है और इसलिए उसे अनैतिक भी नहीं कह सकते। जैन आचार्यों ने स्वयं ही आत्महत्या को अनैतिक माना है लेकिन उनके अनुसार आत्महत्या समाधिमरण से भिन्न है। डॉ० ईश्वरचन्द्र ने जीवन्मुक्त व्यक्ति के

स्वेच्छामरण को तो आत्महत्या नहीं माना है, लेकिन उन्होंने संधारे को आत्महत्या की कोटि में रखकर उसे अनैतिक भी बताया है।²⁰ इस सम्बन्ध में उनके तर्क का पहला भाग यह है कि स्वेच्छामरण का व्रत लेने वाले सामान्य जैन मुनि जीवन्मुक्त एवं अलौकिक शक्ति से युक्त नहीं होते और अपूर्णता की दशा में लिया गया आमरण व्रत (संधारा) नैतिक नहीं हो सकता। अपने तर्क के दूसरे भाग में वे कहते हैं कि जैन परम्परा में स्वेच्छया मृत्युवरण (संधारा) करने में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर अधिक होता है, इसलिए वह अनैतिक भी है। जहाँ तक उनके इस दृष्टिकोण का प्रश्न है कि जीवन्मुक्त एवं अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ही स्वेच्छामरण का अधिकारी है, हम सहमत नहीं हैं। वस्तुतः स्वेच्छामरण उस व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है जो जीवन्मुक्त है और जिसकी देहासक्ति समाप्त हो गयी है, वरन् उस व्यक्ति के लिए है जिसमें देहासक्ति शेष है, क्योंकि समाधिमरण तो इसी देहासक्ति को समाप्त करने के लिए है। समाधिमरण एक साधना है, इसलिए वह जीवन्मुक्त (सिद्ध) के लिए आवश्यक नहीं है। जीवन्मुक्त को तो समाधिमरण सहज ही प्राप्त होता है। जहाँ तक उनके इस आक्षेप की बात है कि समाधिमरण में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर ही अधिक परिलक्षित होता है, उसमें आंशिक सत्यता अवश्य हो सकती है लेकिन इसका सम्बन्ध संधारे या समाधिमरण के सिद्धान्त से नहीं, वरन् उसके वर्तमान में प्रचलित विकृत रूप से है, इस आधार पर उसके सैद्धान्तिक मूल्य में कोई कमी नहीं आती है। यदि व्यावहारिक जीवन में अनेक व्यक्ति असत्य बोलते हैं तो क्या उससे सत्य के मूल्य पर कोई आँच आती है? वस्तुतः स्वेच्छा-मरण के सैद्धान्तिक मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्वेच्छामरण तो मृत्यु की वह कला है, जिसमें न केवल जीवन ही सार्थक होता है, वरन् मरण भी सार्थक हो जाता है। काका साहब कालेलकर ने खलील जिब्रान का यह वचन उद्धृत किया है, “एक आदमी ने आत्मरक्षा के हेतु खुदकुशी की, आत्महत्या की, यह वचन सुनने में विचित्र-सा लगता है।”²¹ आत्महत्या से आत्मरक्षा का क्या सम्बन्ध हो सकता है? वस्तुतः यहाँ आत्मरक्षा का अर्थ आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का संरक्षण है और आत्महत्या का मतलब है शरीर का विसर्जन। जब नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षण के लिए शारीरिक मूल्यों का विसर्जन आवश्यक हो, तो उस स्थिति में देह-विसर्जन या स्वेच्छा-मृत्युवरण ही उचित है। आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा प्राण-रक्षा से श्रेष्ठ है। गीता ने स्वयं अकीर्तिकर जीवन की अपेक्षा मरण को श्रेष्ठ मानकर ऐसा ही संकेत दिया है।²² काका साहब कालेलकर के शब्दों में ‘जब मनुष्य देखता है कि विशिष्ट परिस्थिति में यदि जीना

है तो हीन स्थिति और हीन विचार या हीन सिद्धान्त मान्य रखना ही जरूरी है, तब श्रेष्ठ पुरुष कहता है कि जीने से नहीं, मरकर ही आत्मरक्षा होती है।³⁰

वस्तुतः समाधिमरण का व्रत हमारे आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए ही लिया जाता है और इसलिए यह पूर्णतः नैतिक भी है। यह किसी भी रूप में आत्महत्या नहीं है।

सन्दर्भ :

१. उतराध्ययन, ५.२
२. वही, ५.३
३. वही, ५.३२
४. सकाम का अर्थ स्वेच्छापूर्वक है, न कि कामवासनायुक्त
५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, अध्याय ५
६. प्रतिक्रमणसूत्र-संलेखना पाठ
७. संयुतनिकाय, २१.२.४.५
८. वही, ३४.२.४.४
९. पाराशरस्मृति, ४.१.२
१०. महाभारत, आदिपर्व, १७९.२०
११. अपराक, पृ० ५५३६ उद्धृत- धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४८८
१२. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ४८७
१३. वही, पृ० ४८९
१४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक २२
१५. दर्शन और चिन्तन, पृ० ५३६ तथा परमसखा मृत्यु, पृ० २४
१६. वही, खण्ड २. पृ० ३६ पर उद्धृत
१७. अमरभारती, मार्च, १९६५, पृ० २६
१८. ओषनिर्युक्ति, ४७
१९. अमरभारती, मार्च, १९६५, पृ० २६ तुलनीय विबुद्धिमग्न, १.१३३
२०. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ५३३-३४
२१. गीता, २.३४
२२. परमसखा मृत्यु. पृ० ३१
२३. वही, पृ० २६

12 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 3, जुलाई-सितम्बर, 2015

२४. पाश्चर्ननाथ का चातुर्याम धर्म 'भूमिका'

२५. परमसखा मृत्यु, पृ० १९

२६. गीता, १८.५-६

२७. पश्चिमीय आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २७३

२८. परमसखा मृत्यु, पृ० ४३

२९. गीता, २.३४

३०. परमसखा मृत्यु, पृ० ४३

पवित्र परम्परा संथारा : एक संक्षिप्त चर्चा

आगम ज्ञान रत्नाकर श्री जय मुनि जी महाराज

सूचना-प्रसारण के साधनों की अधिकता के बाद एक तथ्य स्पष्टतया उभर कर आ रहा है कि अनधिकारी व्यक्ति महत्त्वपूर्ण विषयों में हस्तक्षेप करने लगे हैं। इसे 'अव्यापारेषु व्यापार' भी कहा जा सकता है। संथारे के सम्बन्ध में जो टिप्पणियाँ प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रानिक मीडिया में आती हैं वे इतनी स्तरहीन और निम्नकोटि की होती हैं कि कभी-कभी तो टिप्पणी कर्ताओं की बुद्धि पर तरस आता है। पत्रकारों की आचार संहिता में एक नियम अवश्य सम्मिलित किया जाना चाहिए कि धार्मिक मामलों में वही पत्रकार लिखने का अधिकारी हो जो सभी धर्मों का विशेषज्ञ हो। जिस तरह सुप्रीम कोर्ट या हाई कोर्ट के फैसलों के सम्बन्ध में विधि विशेषज्ञ पत्रकार ही टिप्पणी करते हैं, अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के ज्ञाता, विदेश नीति के सम्बन्ध में उस विषय के विज्ञ तथा सेना से सम्बन्धित मामलों में सेना विशेषज्ञ ही लिखने के लिए अधिकृत होते हैं। ऐसे ही धार्मिक मामलों में भी कुछ एक को ही बोलने और लिखने का अधिकार होना चाहिए। अनधिकृत वक्ताओं की मेहरबानी से ही संलेखना अथवा संथारे जैसा महानतम विषय कई दफा बाजारू चर्चाओं में आ जाता है। कभी इसे आत्महत्या के साथ जोड़ दिया जाता है तो कितनी ही बार इसे 'मर्सी किलिंग' या 'इथ्युनीसिया' कहकर उपहास का पात्र बना दिया जाता है।

सर्वप्रथम हर प्रबुद्ध व्यक्ति को यह समझ लेना जरूरी है कि जैन धर्म में आत्महत्या को बहुत अधिक निन्दनीय कृत्य माना गया है। इसके लिए जैन धर्म में कोई स्थान नहीं है। आत्महत्या करने का चिन्तन भी जैन धर्म में वर्जित है, इसके लिए प्रयास करना तो और भी अधिक निन्दनीय है। उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है "सत्यगहणं विसभक्खणं च, जलणं च जल पवेसो य, अणायार भण्डसेवा जम्मणमरणाणि बंधन्ति"¹ अर्थात् शस्त्र-प्रयोग, विष-भक्षण, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश आदि अनाचरणीय साधनों का सेवन करते हुए जो व्यक्ति अपनी जीवन लीला का समापन करते हैं, वे जन्म और मरण के बंधनों को बांध लेते हैं। जैन धर्म में उस प्रत्येक कार्य को पाप कहा गया है जिसके पीछे तीव्र वैर-भाव, भय, शोक, आसक्ति, क्रोध, लोभ आदि भाव छिपे होते हैं और आत्महत्या के पीछे यही कुछ भाव प्रेरक रूप में छिपे रहते हैं। अतः आत्महत्या को जैन धर्म में सामान्य पाप न कहकर महापाप कहा गया है, किसी भी नवागन्तुक या बालक को जब जैन साधु-साध्वी धर्म का पहला पाठ (गुरुधारणा या सम्यक्त्व) पढ़ाते हैं तो मांसाहार, मदिरापान, घृतक्रीड़ा, परनारी-गमन जैसे बड़े-बड़े पापों के साथ आत्महत्या जैसे पाप से भी विरत

होने का व्रत करवाते हैं। जैन धर्म में तो आत्महत्या के लिए इतना घृणित स्थान है कि जब कभी किसी उच्च साधना के साथ आत्महत्या की तुलना सुनने में आती है, तब मन विद्रोही सा होने लगता है।

जैन धर्म में त्याग और तपस्या के लिए सदैव प्रेरणा दी जाती है। संसार से, परिवार से, शरीर से, मोह, आकर्षण तथा लगाव कम करना ऊंचा धर्म माना जाता है क्योंकि इसी मोह के कारण मनुष्य राग-द्वेषमय प्रवृत्ति करता है। आज संसार में जितनी भी विषमताएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं उनका मुख्य कारण मोह है, चाहे वह मोह परिवार से हो, अपने शरीर से हो अथवा अपने मनोभावों से हो। जैन साधना पद्धति में इसी मोह को कम करने का प्रयत्न किया जाता है तथा साधु जीवन में इसे नष्ट करने का संकल्प लिया जाता है।

जब कोई साधक संन्यास धर्म में प्रवेश करता है तब वह नाना प्रकार के नियमोंपनियमों का पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। जैन साधना में ब्रह्मचर्य पालन, रात्रि भोजन का त्याग, नंगे पैरों से विहार, केश लोच, अत्यल्प वस्त्र या अवस्त्र अवस्था आदि आवश्यक नियम होते हैं। इन सबका मुख्य उद्देश्य यही है कि शरीर से अत्यधिक आसक्ति न रहे और यह मन निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त रहे। इस निर्मोह अवस्था को पुष्ट करने के लिए नाना प्रकार के विधि विधान जैन शास्त्रों में प्ररूपित किए गये हैं। तीन मनोरथ इसी निर्मोहता के लिए विहित किए गए हैं। प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन प्रातः उठते ही भावना भाता है कि १. मैं आरम्भ परिग्रह न्यून करूँ, २. मैं गृहस्थ जीवन छोड़कर साधु बनूँ, ३. मैं अंतिम समय में शरीर की ममता छोड़कर संलेखना संथारा करूँ।

प्रत्येक साधु यह भावना भाता है कि १. मैं अधिकाधिक शास्त्रों का अध्ययन करूँ, २. मैं सभी आश्रयों को छोड़कर एकाकी विचरण करूँ, ३. मैं अंतिम समय में शरीर की ममता छोड़कर संलेखना संथारा करूँ।

संलेखना-संथारा श्रावक और साधु का अंतिम लक्ष्य तो है पर उसके लिए वह जीवन की उपेक्षा नहीं करता। जैन धर्म में संयमी जीवन को ही अधिमान दिया जाता है। ऐसा कोई विधान नहीं है कि मुनि दीक्षा लेते ही संथारा ग्रहण कर ले। साधक का अधिकाधिक यह प्रयास होता है कि जहाँ तक संभव हो वहाँ तक जीवन की रक्षा की जाए। मनुष्य जन्म की उपलब्धि को अन्य सभी धर्म-ग्रन्थों की तरह जैन आगमों में भी अति दुर्लभ माना गया है -

“कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ वि।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं”॥^३

अर्थात् जब कर्म क्रमशः क्षीण होते जाते हैं और अन्तर में शुद्धि की वृद्धि होती जाती है, तब जीवात्मा मनुष्य शरीर को प्राप्त करती है। यह मनुष्य शरीर दुर्लभ³ और बहुमूल्य है, यह गंवाने के लिए नहीं है, अपितु बचाने के लिए है। इसी कारण रोगादि की स्थिति में मुनियों के लिए चिकित्सा करवाने की अनुमति है। स्वयं तीर्थंकर महावीर स्वामी ने भी मुनियों की भावना का सम्मान रखने के लिए प्रासुक निर्दोष औषधि का सेवन किया था। यह एक निःसंदिग्ध तथ्य है कि जैन धर्म जीवन का समर्थक है: मृत्यु का पुजारी नहीं है। यह ठीक है कि यहाँ सामान्य जीवन की बजाय संयमी जीवन की पूजा की जाती है। कुछ लोगों के मस्तिष्क में यह भ्रान्ति घर कर गई है कि जैन धर्म जीवन रक्षा के प्रति सावधान न होकर मरणोन्मुखता को प्रश्रय देता है। उनकी यह धारणा नितान्त निर्मूल है क्योंकि जैन धर्म तो सदा ही 'जीओ और जीने दो' का नारा देता रहा है। हाँ! यदि कभी देश, धर्म और आत्मा की रक्षा के लिए जीवन आहुति देने का प्रसंग आया है तो इसमें भी जैनों ने अपनी वीरता का प्रदर्शन किया है।

जैन धर्म की मान्यता रही है कि जीवन को शान से जीओ। संयम, साधना और तपस्या से इसे चमकाओ और जब इससे विदा होने का अवसर आए तब भी हंसते-हंसते इस दुनियाँ से कूच कर जाओ। जीवन के साथ मृत्यु का अविनाभाव सम्बन्ध है। मृत्यु को भी जीवन्त बनाने की कला जैन धर्म में बताई गयी है। जीते-जी मुनि तपस्या का अभ्यास करता रहता है, रात्रि को आहार पानी ग्रहण न करने का उसका आजीवन का नियम होता है। वह यथा शक्ति एक उपवास, दो उपवास; तीन उपवास तथा बढ़ते-बढ़ते छह मास तक के तप का भी अभ्यास कर लेता है।

हर तपस्या के बाद पारना करने की अनुमति या इच्छा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन धर्म जीवन की डोर को एक झटके से तोड़ने की इजाजत नहीं देता है। वह तो जीवन को अधिकाधिक लम्बा करने की प्रेरणा देता है। जैन धर्म की यह एक अहम मान्यता है कि किसी भी मनुष्येतर गति में आत्मा पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकती। मनुष्य यदि मृत्यु प्राप्त करके नरक, तिर्यञ्च या देवगति में से किसी भी गति या योनि में जाता है तो वह अध्यात्म की दृष्टि से घाटे में जाता है न कि मुनाफे में। अतः मनुष्य शरीर को छोड़ने की कभी भी जल्दी नहीं करनी चाहिए।

लेकिन कोई भी साधक इस सच्चाई से भी अपनी आंखें नहीं मूंद सकता कि अन्ततः जीवन का अन्त आएगा ही। इस अंतिम समय को जल्दी तो नहीं बुलाना पर वह आए, इससे पूर्व उसकी तैयारी तो अवश्य कर लेनी चाहिए। ऐसा न हो कि जीवन

16 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 3, जुलाई-सितम्बर, 2015

का आखिरी वक्त आ जाए और हम बेभान हालत में पड़े रह जाएं और उस क्षण का आनन्द भी न ले सकें।

हर धार्मिक व्यक्ति की दिली तमन्ना होती है कि जब मैं अपनी आखिरी सांस ले रहा होऊं तब प्रभु के चरणों में ध्यान बना रहे। जैन धर्म में उस समय के लिए एक पूरी वैज्ञानिक आध्यात्मिक व्यवस्था प्रदान की गयी है। जीवन का अधिकांश भाग संयम पूर्वक व्यतीत हो जाने के बाद साधक एक निर्णय लेता है कि मुझे इस शरीर से कुछ-कुछ मोह घंटाना चाहिए और तब वह १२ वर्ष की संलेखना प्रारम्भ कर देता है। उत्तराध्ययन सूत्र के ३६वें अध्ययन की २५१ से २५५वीं गाथा तक इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है-

बारसेव उ वासाइं संलेहुक्कोसिया भवे।

संवच्छरमज्झमिया, छम्मासा य जहन्निया ॥^५

अर्थात् सबसे बड़ी संलेखना १२ वर्ष की, मध्यम संलेखना एक वर्ष की तथा सबसे छोटी संलेखना ६ महीने की होती है। १२ वर्ष की संलेखना में भी एकदम आहार का त्याग नहीं किया जाता, केवल शरीर की जरूरतें घटाई जाती हैं जैसे कि पहले चार साल तक दूध, दही, घी आदि गरिष्ठ या दुष्पाच्य विगगइयों (विकृतियों) का सेवन नहीं किया जाता। अगले चार वर्ष तक व्रत, बेले, तेले आदि की विविध तपस्या की जाती है। फिर दो वर्ष तक एक-एक दिन के अन्तराल से आयम्बिल (रुक्साहार) किया जाता है, फिर ११वें वर्ष के प्रथम ६ महीने तक कोई भी विशेष तप (तेला, चोला आदि) करने पर पूर्ण निषेध है। अगले ६ महीने उत्कट या कठोर तप का विधान है। फिर अंतिम वर्ष में निरन्तर क्रमबद्ध आयम्बिल तप करने का प्रावधान है और जब यह प्रतीत होने लगे कि शरीर बिल्कुल अंतिम छोर से गुजरने जा रहा है, तब १५ दिन या एक महीने के लिए पूर्णतः आहार का त्याग कर दे। यदि १२वें वर्ष के मध्य में भी यह एहसास हो जाए कि मृत्यु निकट है तो पूर्ण आहार-त्याग किया जा सकता है। क्या संथारे की इतनी विस्तृत भूमिका के बाद भी कोई संदेह शेष रह जाता है कि जैन धर्म में आत्महत्या को क्यों निन्दनीय तथा संथारे को क्यों अति वन्दनीय माना गया है? १२ वर्षीय, एक वर्षीय या षण्मासिक संथारे के अलावा भी तत्कालीन संथारे के लिए जैन शास्त्रों में अनुमति दी गई है-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥^६

भयंकर कष्ट की स्थिति में, दुर्भिक्ष के समय, घोर बुढ़ापा आने पर तथा लाइलाज बिमारी की हालत में साधक को चाहिए कि वह शरीर के प्रति अपना मोहभाव घटा दे तथा संलेखना स्वीकार कर ले। उपर्युक्त सभी स्थितियों में शरीर का अन्त तो होना ही है, अन्य कोई जीने का विकल्प शेष नहीं है, फिर क्यों रोते-बिलखते प्राणों को छोड़े? उस समय तो वह शान्तिपूर्वक देह का स्वयं ही विसर्जन कर दे तो जीवन की पूर्णता ही कहलाएगी नहीं तो मौत को तो आना ही है।

वैसे तो इस्लाम और ईसाई मत को छोड़कर सभी धर्मों में या यूँ कहें कि सभी भारतीय परम्पराओं में संथारे की व्यवस्था है, पर जैन धर्म में तो इसका दीर्घ एवं प्राचीन इतिहास है। जैन धर्म के प्राचीनतम आगमों में जिन भी साधकों का (साधुओं का या श्रावकों का) जीवन चरित्र उल्लिखित है, सबके सम्बन्ध में यह अवश्य सूचित किया गया है कि उन्होंने कितने दिन का संथारा किया। अतः अन्तकृतदशांग में १० महापुरुषों का, अनुत्तरोपपातिक सूत्र में ३३ साधुओं का, ज्ञाताधर्मकथांग, भगवती आदि आगमों में भी शतशः आत्माओं का, उपासकदशांग में १० श्रावकों का, औपपातिक सूत्र में अम्बड़ परिव्राजक और उसके शिष्यों का, निरयावलिका पंचक में राजा चेटक, वरुण (नाग पौत्र) का तथा ज्ञाताधर्मकथा में नन्दन दुर्दुर का जीवन-चरित्र वर्णित है और उन-उन आत्माओं को अंतिम समय में संथारा उदय में आया था, यह भी वर्णित है। अन्यत्र भी आगमकार यह बताना नहीं भूलते हैं कि किन-किन आत्माओं ने कितने-कितने दिन का संथारा किया। स्वयं भगवान् महावीर स्वामी के जीवनकाल में ही उनके माता-पिता ने संथारा ग्रहण किया था।

इतिहासकारों ने जैन मान्यता की पुष्टि की है कि प्रथम भारत सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने धर्म गुरु भद्रबाहु स्वामी के सान्निध्य में संलेखना व्रत स्वीकार किया था। आचार्य चाणक्य के सम्बन्ध में भी जैन परम्परा में उल्लेख मिलता है कि उन्होंने अंतिम समय में समाधिमरण अपनाया था। साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त शिलालेखीय प्रमाणों की विशाल संख्या यह सिद्ध करती है कि संलेखना-संथारा बहुत प्राचीन काल से जैन धर्म में किया जाता रहा है। जस्टिस टी. के. टुकोल ने अपनी पुस्तक '*Sallekhanā is not Suicide*' में ऐसे ज्ञाताधिक शिलालेखों को उद्धृत किया है। प्राचीन काल से आज तक लाखों करोड़ों बुद्धिजीवी, अर्थशास्त्री विधि-विशेषज्ञ, शासक एवं धर्म पुरुष जिस संथारे को बड़ी पवित्र भावना से देखते आए हैं, उसी संथारे की यदि कुछ छुटं भैये पत्रकार आत्महत्या से तुलना करें तो हैरत होती है। क्या इतने मनीषी आत्महत्या को भी नहीं पहचान

सकते थे? क्या उनकी प्रतिभा शक्ति इतनी अविकसित थी कि संथारे और आत्महत्या का अन्तर भी नहीं समझ सके।

इन दोनों घटनाओं में (आत्महत्या व संथारे में) समानता है तो केवल इतनी ही कि दोनों का परिणाम या उत्तरकाल मृत्यु होती है अन्यथा ये दोनों किसी भी अर्थ में समान नहीं हैं।

आत्महत्या और संथारे के बीच मूलभूत अन्तर निम्न बातों का है-

१. मानसिक भाव
२. साधनों का प्रयोग
३. समय की अवधि
४. परिवार और समाज का प्रभाव

१. मानसिक भाव - आत्महत्या करने वाला व्यक्ति तीव्र कषाय के वशीभूत होता है। वह किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए इतना अधिक आकुल और आतुर हो जाता है कि वह न मिले तो जीवन को गंवाने के लिए उद्यत हो जाता है। वह वस्तु पत्नी, प्रेमिका, धन, नौकरी, प्रतिष्ठा किसी भी रूप में हो सकती है। बीमारी से परेशान होकर, अपमान से व्यथित होकर, प्रतिशोध से ग्रस्त होकर या जीवन की निरर्थकता का एहसास होने पर वह इस दुस्साहसिक कदम को उठाता है जबकि संथारा करने वाला व्यक्ति किसी से भी खिन्न या नाराज नहीं होता। जब साधक अपने जीवन को कृत-कृत्य एवं सफल मान लेता है, अपनी धर्म साधना को अधिक उच्च शिखरों पर ले जाना चाहता है, मोह, क्रोध, प्रतिशोध, लोभ आदि को बिल्कुल जड़ से मिटाना चाहता है, तब वह संथारा करने का मन बनाता है। संथारा स्वीकार करने से पूर्व अपने मनोभावों को और भी निर्मल बनाने का प्रयास करता है। समग्र जीवन में किसी से मनमुटाव, नाराजगी या कलह आदि के प्रसंग बने भी हों तो संथारे से पूर्व उन सब व्यक्तियों से हार्दिक क्षमा याचना करनी होती है। मानसिक संक्लेश का अंश मात्र भी मन पर अवशिष्ट न रहे, यह शर्त पूरी करनी होती है। इसके अलावा सम्पूर्ण जीवन में अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञाओं, व्रतों में कोई दोष लग गया हो, अपने नैतिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक मूल्यों का इरादतन-गैरइरादतन उल्लंघन किया हो, उन्हें अच्छी तरह याद करके अपने श्रद्धेय गुरुओं के चरणों में उनकी आलोचना करना भी जरूरी होता है। अपने अपराधों को स्पष्टतया स्वीकार करके इनके लिए दण्ड या प्रायश्चित्त लिया जाता है तथा भविष्य के लिए सब प्रकार के पापों का मन, वचन काय से न करने का, न करवाने का तथा न समर्थन करने का प्रण लिया जाता है।

समग्र जीव राशि से क्षमा याचना की जाती है। क्या आत्महत्या तथा संधारे के मनोभावों में कहीं समानता प्रतीत होती है? आत्महत्या यदि काला कोयला है तो संलेखना तराशा हुआ हीरा।

२. साधनों का प्रयोग - आत्महत्या में अग्नि, विष, शस्त्र, जल आदि साधनों का प्रयोग अनिवार्य होता है। आत्महत्या के विश्व में जितने भी मामले सामने आए हैं उन सब में किसी न किसी बाह्य साधन को अपनाकर जबरदस्ती शरीर का अन्त किया गया है। चाहे किसी ने फांसी का फंदा लटकाया, जहर या नींद की गोलियां खाईं, पर्वत, वृक्ष, ऊंचे भवनों से छलांग लगाईं, नदी, कुएं में डूबे, मिट्टी के तेल, पेट्रोल छिड़ककर आग लगाईं, रिवाल्वर अपनी कनपटी पर रखकर ट्रिगर दबाया, या प्लास्टिक के थैले से अपनी सांस घोट लिया। कुछ भी किया हो पर इतना स्पष्ट है कि कोई भी आत्महत्या साधन के प्रयोग के बिना सम्भव ही नहीं हो सकती। जबकि संधारे के लिए किसी भी घातक साधन का प्रयोग न करना पूर्व शर्त है। यदि ऐसा किया तो वह धार्मिक क्रिया न होकर अत्यन्त पापमय क्रिया हो जाएगी। यदि शुद्ध भावों के साथ भी अशुद्ध साधन का प्रयोग हो जाए तो जैन धर्म ने उसे संधारा नहीं माना है, न ही इसकी अनुमति दी है। रत्नकरण्डश्रावकाचार ^६ आदि ग्रन्थों में अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, वृक्ष पतन आदि से मरने वाले साधकों को मूढ़ कहा गया है। संधारों में शुद्ध मनोभावों वाला साधक सिर्फ आहार का ही त्याग करता है। क्योंकि वह अनुभव करने लगता है कि अब इस शरीर को आहार-पानी-दवा आदि दूंगा तो आहार पानी शरीर के लिए सहायक न होकर पीड़ावर्द्धक ही होंगे। पीड़ा बढ़ने से कहीं मानसिक असमाधि न हो जाए, उस असमाधि से बचने के लिए भोजन का त्याग कर देना ही उचित है। जब तक भोजन करने से जीवन यात्रा, संयम-साधना निर्बाध गति से चलती रही, तब तक आहार का सहारा लिया, किन्तु जब यह लगा कि आहार सहायक न होकर बाधक बन रहा है, तब आहार को छोड़ देने का निर्णय ले लिया। यह निर्णय भी कोई एक झटके के साथ नहीं लिया जाता, अपितु पूर्वापर का विचार करके ही लिया जाता है। संधारे की ओर बढ़ने वाला व्यक्ति अपने पूर्व जीवन में भी समय-समय पर आहार छोड़कर तप करता है, कभी एक दिन, कभी दो दिन, कभी ४, ५, ९, १० दिन, कभी महीने या छह महीने भी। संयम और तप उसकी खुराक होती है। पहले जितना भी तप किया जाता था, वह अल्पकालिक तप होता था, लेकिन अब उसका संकल्प सार्वकालिक तप हो गया। जैन परिभाषा में पहले तप को इत्वरिक तथा दूसरे तप को यावत्कथिक नाम दिया गया है। संधारा ग्रहण करने वाला कई बार यह भी देखता है कि यद्यपि आहार-दवा आदि शरीर के प्रतिकूल तो नहीं पड़ रहे पर उनके सेवन से मेरे लिए हुए नियम और दूसरी प्रतिज्ञाएं भंग

हो रही हैं; मैं अपने महाव्रतों का या अणुव्रतों का सही ढंग से निर्वाह नहीं कर पा रहा हूँ, तब अपने नियमों की सुरक्षा के लिए भी वह आहार, दवा का परित्याग कर सकता है। उसे अपने स्वीकृत धर्म में स्वल्प स्वखलना या त्रुटि भी सहन नहीं होती। कल्पना कीजिये कि कोई शुद्ध शाकाहारी मनुष्य किसी ऐसे स्थान पर पहुँच गया जहाँ मांसाहार के अलावा कुछ नहीं मिलता। उस समय यदि वह तत्रोपलब्ध आहार नहीं करता तो पाप की बजाय धर्म का ही भागी माना जाता है। ऐसे ही वृद्ध तथा रुग्ण अवस्था में सदोष आहार लेना पड़े, रात्रि आदि के समय लेने की मजबूरी बनने लगे, तो ऐसी स्थिति में संथारा ग्रहण करना एक उत्तम रास्ता है।

भोजन और दवा का स्वेच्छिक त्याग तो सामान्य मानव भी कर लेते हैं, जैसे कि अस्पतालों से मरीज यह कहकर छुट्टी ले लेते हैं कि हमें अब उपचार नहीं लेना। यह उनका निजी अधिकार है। अतः स्वतः भोजन या औषधि को छोड़ना आत्महत्या नहीं अपितु संथारे की स्थिति है, दोनों एक नहीं हैं।

हजारों लाखों में एकाध मामले ही ऐसे सुनने में आते हैं कि किसी धर्मात्मा ने बाह्य साधनों का भी प्रयोग करके अपनी लीला समेट ली, जैसे चन्दनबाला की माँ ने अपने शील की रक्षा के लिए अपनी जीभ खींच ली तथा कोई साधु-साध्वी अपने समय की सुरक्षा के लिए फंदा लटकाकर समाप्त हो गया। उन स्थितियों में जैन धर्म ने उनके उस प्रयास को निन्दनीय तो नहीं कहा पर उसे संथारा भी नहीं कहा। संथारा तो वही है जो सहज-भाव से अपनाया जाए। साधनों का अनिवार्य प्रयोग और नितान्त अप्रयोग आत्महत्या तथा संथारे को पूर्णतः भिन्न सिद्ध करता है।

३. समय की अवधि : जहाँ तक समय की अवधि का प्रश्न है वहाँ आत्महत्या तो कुछ क्षणों का ही खेल है। उसे क्षणिक उन्माद, आवेश, आवेग और पागलपन कहा जा सकता है। जब कोई मानव नकारात्मक सोच का शिकार हो जाता है तो वह तत्काल मरने पर उतारू हो जाता है। उसके पास धैर्य नहीं होता। उसे मृत्यु चाहिए, वह भी फौरन। शत्रु प्रतिशत केस ऐसे मिलेंगे कि कोई व्यक्ति आत्महत्या के लिए नदी आदि में कूदता है और उसे बचा लिया जाता है तो वह बचाने वाले का धन्यवाद करता है। वह तुरन्त मर जाता तो बात अलग थी। वर्ना वह देर तक मृत्यु का सामना नहीं कर सकता। जो लोग क्रोध में आग लगा लेते हैं या सल्फास (जहरीले पदार्थ) खा लेते हैं, वे भी बचाओ-बचाओ कहने लगते हैं अर्थात् आत्महत्या का काल अत्यल्प होता है जबकि संथारा लेनेवाला तो अनन्त धैर्यधारी व्यक्ति होता है। वह भोजन का त्याग करके शरीर से निरपेक्ष (शरीर का दुश्मन नहीं) होकर आत्म चिन्तन, प्रभु भजन, धर्मश्रवण में लीन हो जाता है। उसे न जीने की

तमन्ना रहती है और न ही मृत्यु की आकांक्षा। उसके लिए जीने और मरने की दोनों ही घटनाएँ बराबर हैं।

उपासकदशांग,^७ आवश्यकसूत्र^८ तथा तत्त्वार्थसूत्र^९ में संथारे में आसीन व्यक्ति के लिए पाँच प्रकार की अभिलाषाओं से मुक्त होने को कहा गया है- 'इहलोगासंसप्पओगे', 'परलोगासंसप्पओगे', 'जीवियासंसप्पओगे', 'मरणासंसप्पओगे', 'कामभोगासंसप्पओगे', अर्थात् इस जन्म में सुख प्रतिष्ठा मिले यह कामना नहीं करनी, अगले जन्म में स्वर्ग, अप्सराएँ, चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त हो जाएँ, यह कामना भी नहीं करनी, चारों ओर सम्मान बँढ़ रहा है इसलिए मैं और अधिक देर तक जीता रहूँ, यह भावना भी नहीं करनी तथा बढ़ती हुई शारीरिक वेदना या पारिवारिक उपेक्षा से जल्दी मरने की इच्छा भी नहीं करनी तथा किसी भी प्रकार के लौकिक काम-भोग की लालसा नहीं करनी। महान् आश्चर्य है कि यद्यपि संथारा मृत्यु में परिणत होने वाली घटना है पर मृत्यु की कामना फिर भी नहीं है। यह है संथारे का धीरज, अनन्त प्रतीक्षा, बेइन्तहा सब्र और असीम शान्ति। यही कारण है कि संथारे एक पल, एक घण्टा, एक दिन, एक सप्ताह, एक महीने से बढ़ते-बढ़ते तीन-चार महीने भी चलते हैं, फिर भी साधकों के मन में कोई बेचैनी नहीं आती। वे आराम से अपनी जिंदगी का आखिरी वक्त गुजारते रहे हैं। क्या ऐसी पावन, उदात्त संथारे की धैर्य वृत्ति के साथ आत्महत्या की बेचैनी, तात्कालिकता को उपमित किया जा सकता है? कदापि नहीं। वस्तुतः दोनों घटनाएँ अलग-अलग ध्रुवों की संकेतक हैं।

४. परिवार और समाज पर प्रभाव : आत्महत्या के बाद समाज और परिवार का ढांचा एकदम चरमरा जाता है, एक सन्नाटा-सा छा जाता है, हर व्यक्ति अपराध बोध से ग्रस्त हो जाता है तथा मृत व्यक्ति के पीछे तदाश्रित बाल, बच्चे, बुजुर्ग, माता-पिता सदा-सदा के लिए असहाय और निराश्रित हो जाते हैं। उनके पीछे बालक दर-दर की ठोकर खाते हैं, नारियों के लिए जिन्दगी दूभर हो जाती है, वृद्ध माता-पिता सेवा के लिए तरस जाते हैं, क्योंकि आत्महत्या करने वाला व्यक्ति दायित्वहीन होकर संसार से विदा हो गया। उसका यह मरण घोर पलायनवाद है, कायरता है और परिवार और समाज के प्रति एक गहरा विश्वासघात है। जो उसके कर्तव्य थे उन्हें पूरा किए बिना ही वह जिन्दगी को समाप्त कर गया। जबकि संथारा उसी व्यक्ति के लिए विहित है जिसने अपने दायित्व को पूरी तरह निभाया, कभी सेवा, कर्तव्य-पालन से जी नहीं चुराया तथा जब वह प्रत्येक जिम्मेदारी से मुक्त हो गया, पूर्णकाम हो गया, तब परम धन्यता का अनुभव करता हुआ वह साधक, 'शरीर व आत्मा' के पार्थक्य को समझने के लिए कठोर कदम उठा लेता है। चूंकि संलेखना-संथारा

ग्रहण करनेवालों के मन में किसी के प्रति आक्रोश या असंतोष नहीं होता, न ही उसकी वाणी में किसी से गिला-शिकवा होता है, न किसी के प्रति दुर्व्यवहार होता है, इसी कारण परिवार और समाज में भी उस महान् आत्मा के प्रति अतिशय श्रद्धा एवं आदर का भाव होता है। भले ही वे मोहवश उस व्यक्ति को संथारा स्वीकार करने से रोकें पर उसके उस फैसले से वे अपने को उगे, प्रपीड़ित या वंचित महसूस नहीं करते। वे उसकी अन्तिम घड़ियों में अधिकाधिक शान्ति और समाधि का योगदान देने को उत्सुक रहते हैं। अपने शोक के आवेश को भी रोकने का प्रयास करते हैं ताकि संथारालीन व्यक्ति अपने सम्बन्धियों के दुःख से आकुल-व्याकुल न हो। पारिवारिक जन वियुज्यमान आत्मा की भाव स्थिरता के लिए भगवद्-भक्ति के गीत गाते हैं, आगम पाठ सुनाते हैं, नमस्कार मंत्र पढ़ते हैं तथा निरन्तर अध्यात्ममय वातावरण बनाने को समुद्यत रहते हैं। उनके मन में ये भाव उमड़ते हैं कि इस आत्मा को अपना ध्येय प्राप्त हो तथा कभी अवसर आए तो हम भी इसका अनुसरण कर अपनी जीवनलीला को ऐसे ही समेटें। परिवार और समाज उस व्यक्ति के उस महान् पराक्रम से स्वयं को लांछित नहीं, गर्वित अनुभव करता है। उनके मन में उसके प्रति कोई शिकायत, बगावत, विक्षोभ, विद्रोह या असंतोष का भाव नहीं रहता, केवल अहोभाव ही उनके मन में तैरता है। संथारे से समाज उपकृत होता है और आत्महत्या से समाज अपकृत एवं तिरस्कृत होता है इसलिए इन दोनों में कोई साम्य नहीं है। संथारा सृष्टि का सौन्दर्य है तो आत्मघात इसका रौरव रूप है।

संथारे की शृंखला जैन धर्म में तो अविच्छिन्न रूप से चलती ही रही है, अन्य धर्मों में भी संथारे का प्रावधान है। वैदिक ग्रंथों में मनुस्मृति में प्रायोपवेशन का विधान है। जैन धर्म उनके भावों को मान्य करते हुए भी तत्तत् विधि से सहमत नहीं रहा है, क्योंकि पहले तो उन प्रायोपवेशनों के पीछे स्वर्गादि की अभिलाषा छिपी रहती है, दूसरे उनमें जल, अग्नि, विष आदि जीवन नाशक साधनों का प्रयोग किया जाता है जो कि संथारे में बिलकुल निषिद्ध है। जैनैतर साधकों में श्री विनोबा भावे का संथारा एक आदर्श के रूप में पेश किया जा सकता है। उन्होंने इस संथारे की स्थिति तक पहुँचने से पहले वर्षों तक इस विषय में अध्ययन, मनन और चिन्तन किया, जैन मुनियों के संथारे को देखा, तपस्वी मुनि श्री जगजीवन राम जी महाराज, श्री जिनेन्द्र वर्णीजी जैसे प्रबुद्ध जैन साधकों से मार्गदर्शन लिया। फिर उन्होंने ९ नवम्बर १९८२ को जीवन पर्यन्त के लिए आहार पानी का परित्याग कर दिया। तत्कालीन प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी सहित तमाम राष्ट्रनेताओं ने विनोबाजी से पानी, ग्लूकोज या फलों का रस लेने की विनती की, फिर भी उन्होंने उस पर ध्यान नहीं दिया। प्रस्तुत प्रसंग के संदर्भ में आधुनिक संथारा-विरोधियों से एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि

क्या श्रीमती गांधी सहित समस्त राष्ट्र नेता इतने जड़-मूढ़ थे कि उन्होंने विनोबा भावे पर आत्महत्या का आरोप नहीं लगाया, उन्हें जबरदस्ती ग्लूकोज नहीं दिया और न उन पर आत्महत्या के प्रयास का मुकदमा चलाया। यह तो सूरज की तरह साफ है कि संधारा करने वाले हमारे लिए प्रणाम्य और अनुगम्य ही होते हैं, न कि उपहास या दया के पात्र। हमें सोचना चाहिये कि ऊपर से समान दिखने वाली दो क्रियाएँ यथार्थ में सर्वदा भिन्न भी हो सकती हैं। देश की सुरक्षा के लिए सैकड़ों हजारों युवकों ने अपना बलिदान कर दिया, क्या उनके बलिदान को आत्महत्या की निम्न कोटि में रखा जाएगा? कितने ही वैज्ञानिकों ने नई खोजों के लिए, मानवता के भले के लिए जीवनान्तक प्रयोग किए हैं, क्या उनकी इस कुर्बानी को आत्महत्या जैसा छिछला और निन्दनीय नाम दिया जा सकता है? नहीं बिल्कुल नहीं। भारत-पाकिस्तान प्रथम युद्ध में जब पाकिस्तानी पैटन टैंकों को भारतीय जवान ध्वस्त करने में असमर्थ हो रहे थे तब कुछ बलिदानी किस्म के सैनिकों ने अपने शरीर पर बम बांधकर उनके टैंकों में घुस कर उन्हें नष्ट किया था। उन महान् वीरों के आत्म बलिदान से समूचा भारतवर्ष गौरवान्वित हो उठा था। उस समय किसी सिरफिरे ने यह मामला उठाने का दुस्साहस नहीं किया कि उन सैनिकों ने आत्महत्या की है। इतने दकियानूसी विचारधारा के लोग तब इस देश में नहीं थे। उनकी वीरता के लिये उन जांबाज बहादुर सैनिकों को वीरचक्र, महावीरचक्र, परमवीरचक्रों से नवाजा गया था। देशरक्षा के लिए किया गया आत्म-बलिदान जिस प्रकार पुरस्कृत किया जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक उच्चता की प्राप्ति के लिए ग्रहण किया संधारा भी संस्तुत किया जाता है। संधारे में तो किसी के वध का प्रयास या चिन्तन भी नहीं होता।

सती प्रथा एवं संधारा: एक पुरब एक पश्चिम

मुगलकाल में राजस्थान में रानी पद्मिनी आदि हजारों नारियों ने अपने शील की रक्षा के लिए आत्म बलिदानी जौहर खेले थे। जिन्हें आज भी महिमामंडित किया जाता है। जैन धर्म में इस प्रथा को अपनाया तो नहीं गया, क्योंकि जौहर में अग्नि में अपने को भस्म किया जाता है और संधारे में अग्नि आदि का प्रयोग वर्जित है, पर आपात्कालीन उपाय के रूप में इसका सर्वथा खण्डन भी नहीं किया गया। जैन धर्म भारत में प्राचीन काल में होने वाली सती प्रथा के विरुद्ध रहा है क्योंकि सती प्रथा ढलती उम्र में मरण की सन्निकटता की हालत में मृत्यु का आलिंगन न होकर, पति वियोगजन्य शोक से प्रभावित होकर उठायी हुआ मोह विह्वल आचरण है। अगले जन्म में पति-मिलन की एक सांसारिक कामना भी इसके भीतर छिपी हुई रहती है। इसके अतिरिक्त सती होने के लिए परिवार और समाज का दबाव भी होता है। जबकि,

संधारा किसी के दबाव से किया ही नहीं जा सकता। चूँकि युवावस्था में चिता पर जीवित सोना सरल कार्य नहीं होता, अतः सती क्रिया के दौरान ऊँची-ऊँची आवाज में ढोल बजाए जाते थे ताकि अग्नि लगने पर तड़पती चीखती 'त्राहि माम्' पुकारती नारी के करुण स्वर किसी को सुनाई न दें। ऐसी वीभत्स प्रथा से कभी भी संधारे की पवित्र क्रिया को उपमित नहीं किया सकता।

संलेखना तप

संधारा से पूर्व संलेखना तप की आराधना की जाती है। संलेखना तप का अर्थ है ऐसी तप प्रणाली जिससे साधक अपने कषायों को सम्यक् प्रकारेण कृश करे। 'सम्' का अर्थ उत्कृष्टता से, सम्यक् रीति से तथा लेखना का अर्थ देखना तथा पेंसिल को छीलने की तरह पतला करना। यहाँ संलेखना तप में दोनों तरह के अर्थ घटित होते हैं। क्योंकि यह संलेखना दो भेदों वाली होती है- एक कषाय संलेखना और दूसरी काय संलेखना।

१. कषाय-संलेखना तप - आध्यात्मिक दोष जो चार प्रकार के बताए गए हैं- क्रोध-मान-माया-लोभ, इन कषायों का सम्यक् निरीक्षण करना, अपने भीतर रहे कषायों के कारणों को खोजना, उनका विज्ञान जानना, उनकी परिणति को पहचानना, उनकी भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का आंतरिक रूप से विश्लेषण करना और उनका विसरण (विसर्जन) करना कषाय-संलेखना तप है। इस तप में साधक यथा संभव निरन्तर षडावश्यक की आराधना में उपस्थित रहता है। अपने जीवन भर में किए गए समस्त पापों एवं दोषों का प्रतिक्रमण-निरीक्षण, गर्हा एवं 'अप्पाणं विसिरामि' (आत्म विसर्जन) करता है। इस तप-प्रक्रिया में साधक आत्मविलोचना करता हुआ अपने गुरु अथवा आचार्यादि के सम्मुख बिना कुछ भी छिपाए अपने अपराधों एवं दोषों को प्रकट करता है, गर्हा (confession) करता है। गुरु से प्रायश्चित्त विधि ग्रहण करता है और तब भावशुद्धि के द्वारा कषाय संलेखना तप के साथ-साथ काय संलेखना तप भी ग्रहण करता है।

कषाय संलेखना तप द्वारा साधक जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि समस्त द्वन्द्वों का निराकरण करता हुआ समत्वयोग को धारण करता है। समता की आराधना से कषाय कृश होते हैं और कषाय क्षीण होने से चेतना कर्मभार से हल्की होकर ऊर्ध्वगामी होने लगती है। इस प्रकार कषायों का प्रतिक्रमण, निरीक्षण, गर्हा एवं विसर्जन ये (प्रत्याख्यान एवं प्रभुपासना सहित) षडावश्यक, कषाय संलेखना तप है। कषाय प्रतिसंलीनता रूप कर्म निर्जरा का उपक्रम है।

कषाय संलेखना, काय-संलेखना की अनिवार्य पूर्वावस्था है क्योंकि जब तक राग-द्वेष क्षीण नहीं होते, तब तक काय-संलेखना की कोई सार्थकता नहीं है। काम का कृशपना तो रागी, दरिद्र, पराधीनतागत मिथ्यादृष्टि को भी हो जाता है। देह को कृश करने के साथ राग-द्वेष मोहादि को कृश करके इहलोक-परलोक सम्बन्धित समस्त वांछा का अभाव करके, देह के मरण में, कुटुंब-परिग्रह आदि समस्त परद्रव्यों से ममता छोड़कर परम वीतरागता से संयम सहित मरण करना, कषाय संलेखना है।

जो विषय कषायों को जानकर उनका विसरण (विसर्जन) करेगा, उसी में समाधिमरण घटित होगा, जो विषय कषायों के आधीन है, उनमें ही गूढ़ है, उसको समाधिमरण नहीं होता है।

२. काय-संलेखना - काय संलेखना का अर्थ है- काया को सम्यक् प्रकार से कृश करना। जब साधक के कषाय क्षीण होते हैं तब वह शरीर से तपोरत रहने के कारण काय संलेखना तप की आराधना करता है। निज कृत अतिचारों एवं अनाचारों के प्रायश्चित्त का साधक जो तप अंगीकार करता है, वह काय-संलेखना तप है। यह तप भी दो प्रकार का है।

१. अब्दानशन - इसमें काल मर्यादा के अंतर्गत उपवास रखते हुए मर्यादापूर्वक भोजन का त्याग किया जाता है।

२. सर्वानशन - इसमें मरणपर्यंत समस्त आहार का त्याग किया जाता है।

काय-संलेखना तप की विधि - काय-संलेखना तप में साधक जघन्य छः मास, मध्यम एक वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष तक तपाराधना करता है। अपनी मृत्यु को निकट जानकर साधक इस (निम्नोक्त) क्रम में संलेखना तप की आराधना करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र^{१०} के ३६ वें अध्याय के अनुसार संलेखना तप का साधक प्रथम चार वर्षों में दूध, घृत आदि विग्गइयों का त्याग करें तथा दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार का तप करे।

तदनन्तर दो वर्षों तक एकांतर उपवास और पारणे में आयंबिल करे। इसके पश्चात् ११ वें वर्ष के प्रथम छः महीनों तक कोई विशिष्ट तप (तेला, चोला आदि) न करे।

इसके पश्चात् छः माह तक उत्कृष्ट तप (बेला, तेला आदि) करे। इस पूरे वर्ष में पारणे में आयंबिल करे।

26 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 3, जुलाई-सितम्बर, 2015

वह संलेखनाधारी बारहवें वर्ष में कोटि सहित अर्थात् निरंतर आयंबिल तप करके एक पक्ष (या एक मास का आहार-त्याग रूप तप करे।

इस प्रकार निरंतर काय-संलेखना तप के द्वारा साधक क्षीणकाय और क्षीणकषाय होने पर समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त होता है और ऐसा समाधिवंत, शीलवान साधक सुलभ बोधि होकर अपने संसार को सीमित कर लेता है। ज्यादा से ज्यादा १५ भव, मध्यम ३ भव और उत्कृष्ट उसी भव में वह आत्मा इस संसार चक्र से मुक्त हो जाता है और परिनिर्वाण को प्राप्त करता है।

संधारा कोई बाह्य आचार-साधना नहीं वरन् भीतरी अपूर्व घटना है। अक्सर ऐसे लोगों को देखा गया है जो जीवन भर से सुनते आए हैं कि संधारा आए तभी जीवन सफल होता है, संधारा आए तभी कल्याण होता है, संधारा आए तभी मोक्ष होता है, वे लोग अपने परिजनों को कहकर रखते हैं कि जब भी मेरी मृत्यु का समय आए, मुझे संधारा पचक्खा (प्रत्याख्यान करवा देना) देना। मैं जीवन से यूँ ही खाली हाथ न लौट जाऊँ। अतः मैं होशो-हवास में रहूँ या ना रहूँ किन्तु आप लोग मेरे मृत्यु एवं बीमारी को जानकर संधारा पचक्खा देना। अक्सर ऐसे करुणाशील सहृदय लोग रात सोने से पहले भी संधारा पाठ बोलकर सोते हैं और जब मृत्यु का समय आया हुआ सा प्रतीत होता है, तब या तो वे स्वयं, अथवा होशो-हवास में न हो तो उनके परिजन उन्हें संधारा पचक्खा देते हैं और आहारादि के त्यागपूर्वक वे लोग मृत्यु को प्राप्त भी हो जाते हैं। ये सारी भावनाएँ अच्छी बातें हैं, लेकिन कोई बाहरी पचक्खान (प्रत्याख्यान) ग्रहण मात्र को ही संधारा समझ रहा है, तो वह उसकी भूल ही होगी। ठीक वैसे ही जैसे वेश परिवर्तन को कोई साधुत्व समझ ले। हाँ लोग महिमामण्डित कर देंगे, बड़े जोर-शोर से प्रचार-प्रसार भी होगा, जनता दर्शनों को आया करेगी, अखबारों में फोटो छपने लगेगी और यदि वह जीवात्मा भाव पूर्वक सम्यक् संधारा में उपस्थित नहीं है तो द्रव्य क्रिया का द्रव्य फल (यश लाभ) प्राप्त कर फिर आत्म प्रवंचना का ही शिकार बना रहेगा। ऐसी भ्रमपूर्ण घटनायें अक्सर इस समाज में घटित होती ही रहती हैं। घटनाओं को यथारूप उपस्थित करना अच्छी बात है, किन्तु उसे सामने वाले को मानने और स्वीकार करने के लिए बाध्य करना, या वैसे आग्रह करना अपने आप में आरंभ है, अहं चेष्टा है।

संधारा आहार-शरीर-उपधि का त्याग मात्र ही हो, ऐसा नहीं है। यह तो उपलक्षण हैं, बाईप्रोडक्ट है, मूल बात तो यह है कि साधक अपनी मृत्यु का समभाव में साक्षात्कार करे। अपनी प्राणधारा को उर्ध्वगमित करे और अपने समग्र अतीत से निर्लेप-निःसंग हो जाए।

जब तक कोई साधक अपना मरणान्तिक प्रतिक्रमण नहीं कर लेता तब तक वह संथारे को उपलब्ध नहीं हो सकता। जीवन भर के किए समस्त अतिक्रमणों का आलोचन, प्रतिक्रमण संथारा साधना का अभिन्न एवं अपरिहार्य घटक है। जब तक कोई साधक निजकृत दोषों की गुरु अथवा भगवान् के समक्ष आत्मस्वीकारोक्ति (confession) नहीं कर लेता, मन की गांठों को खोल कर हल्का नहीं हो जाता, तब तक संथारा संभव नहीं। जब तक कोई साधक सर्व भूतों से क्षमा याचना नहीं कर लेता, प्रायश्चित्त एवं क्षमापना (खमत-खामना) नहीं करता तब तक संथारा संभव नहीं होगा। जब तक किसी प्रकार का वैर-विरोध, शिकवा-शिकायत को दिल से भुलाकर, परिजनों से राग-भाव, ममत्व-भाव को हटाकर देह पर से ममता नहीं घटती, परलोक की वांछा से रहित नहीं हो जाता, तब तक संथारा नहीं होता।

मन में किसी प्रकार का निदान, प्रितिबन्ध हो तो संथारा सिद्धि नहीं होती। पकड़ (possession) छूटना आवश्यक है। जब तक प्राणधारा ऊर्ध्वगामी नहीं होती तब तक संथारा नहीं होता। जब सर्वप्रकारेण कषायात्मा का विसर्जन होता है, तभी साधक संथारे में उपस्थित होता है।

संथारा मृत्यु में जीवित रहने की कला है, जो इसे उपलब्ध हो गया है वह समस्त जीवन के सार को उपलब्ध है। अतः इसे बाह्य आचार से नहीं, द्रव्य पचक्खण से नहीं, वरन् भावपूर्वक भेदज्ञान से जानो और जीओ। इस अपूर्व घटना से एक बार भी जो साधक गुजर गया, उसने संसार चक्रव्यूह का भेदन कर लिया। अब वह दुबारा चक्रव्यूह में कभी नहीं फंसता।

यदि ज्ञानवान्, चारित्र-संपन्न, शान्त-दान्त-क्षान्त साधकों के संथारे के बारे में सोचें तो यह संसार की सर्वोच्च उपलब्धि है। हां संथारे जैसी पावनतम क्रिया को उन लोगों से बचाना भी जरूरी है जो केवल एक झटके में आहार-पानी का त्याग करके स्वयं को मुक्ति का अधिकारी मान लेते हैं। संथारे का अत्यधिक गुणगान सुनकर कुछ भोले-भाले श्रावक या सन्त यह धारणा बना लेते हैं कि हम भी आहार-पानी त्याग कर मरेंगे। चाहे उनकी शारीरिक स्थिति जीने के लिए अनुकूल हो तो भी वे संथारे का आग्रह कर बैठते हैं। कुछ क्षमा याचना, आलोचना आदि शर्तों को पूरा किए बिना ही संथारे में आरूढ़ हो जाते हैं। ऐसे भद्र प्राणी न तो संथारे की भावना पर खरे उतरते हैं और न ही संथारे को उपहास का पात्र बनने से रोक पाते हैं।

कुछ अनभिज्ञ व्यक्ति इस एक ही धारणा में जीते हैं कि जिन्होंने अंतिम समय में आहार का त्याग कर दिया वही सच्चा साधक है, शेष तो जन्म ही गंवाते हैं। उन्हें

28 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 3, जुलाई-सितम्बर, 2015

यह ज्ञात होना चाहिए कि मन की शुद्धि, क्षमा-याचना का भाव, दोषों की आलोचना के साथ निर्दोष व्रताराधना जिसने की है, वह भले ही अंत में आहार का त्याग कर पाया हो, वह आराधक ही है।

‘संधारा’ शब्द जैन धर्म में इतना महिमामण्डित हो गया है कि हर किसी की भावना रहती है कि हम अपने प्रिय मृत व्यक्ति के साथ ‘संधारा साधक’ विशेषण अवश्य लगाएं। इसी कारण बड़े उपहास पूर्ण घटना चक्र घूमते रहे हैं। कोई साधु-साध्वी कई दिनों से बेहोश है, कोमा की स्थिति में है, संत और समाज सेवा से उकता गए हैं, पिण्ड छुड़ाने के लिए उसे भी संधारे का प्रत्याख्यान करवा दिया जाता है। कोई साधु, साध्वी अस्पताल के वातानुकूलित कमरे में ग्लूकोज की ड्रिप पर है, रात्रि को इन्जेक्शन लग रहे हैं, शरीर पूरा हो रहा है, तब शिष्यवृन्द ‘वोसिरामि-वोसिरामि’ कहकर अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेते हैं। मन में एक सांत्वना है कि हमने अंतिम पाथेय दे दिया और फिर खुलकर प्रचार कर दिया कि गुरुजी या साध्वीजी संधारे में गई हैं। शिष्य बेचारे लाचार हैं, वे सत्य को स्वीकार नहीं कर सकते कि गुरु महाराज ने संधारा नहीं किया। अतः एक कपटपूर्ण असत्य का सहारा लेकर घोषणा की जाती है कि संधारा करवा दिया गया था।

यह भी संधारे के सम्बन्ध में अतिरंजित धारणा का दुष्परिणाम है। जैन धर्मानुयायियों को तो इस विषय में विशेष सतर्क रहना चाहिए। हमें सही संधारे का विरोध करने वालों को उत्तर तो देना ही होगा साथ ही अशुद्ध संधारे की परिपाटी को भी नहीं पनपने देना होगा। आइये! इस युग के कुछ महानतम संधारा साधकों को स्मरण करके नमन करें।

१. १९४९ में मूनक में श्री बनवारीलाल म० ने १० दिन का संधारा किया।
२. १९६१ में सौराष्ट्र के पींज गांव में श्री चतुरलाल जी म० ने ४२ दिन का संधारा किया।
३. १९८६ में राजगृह में तपस्वी मुनि श्री जगजीवनरामजी म० ने ४५ दिन का संधारा किया।
४. १९८७ में सोनीपत में तपस्वी श्री बद्री प्रसाद जी म० ने ७२ दिन का संधारा किया।
५. १९९१ में पीपाड़ में श्री हस्तीमल जी म० ने १० दिन का संधारा किया।

६. २००४ में उत्तम नगर में श्राविका अनारो देवी ने ५४ दिन का संथारा किया। वर्तमान में जयपुर, अजमेर, नौहार के संथारे मीडिया में चर्चित हुए ही हैं। जैनों की चारों सम्प्रदायों में संथारों की एक सुदीर्घ सूची उपलब्ध है क्योंकि संथारा प्रत्येक साधक की शुद्ध, उदात्त भावनाओं का परिपाक है, अंतिम मनोरथ है, साधना के मंदिर का कलश है। आओ इसकी गरिमा को अक्षुण्ण रखें।

सन्दर्भ:

१. उत्तराध्ययन सूत्र, ३६/२६७
२. वही, ३/७
३. वही, ३/१
४. वही, ३६/२५१
५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १२२
६. वही, २२
७. उपासकदशांगसूत्र, १/५४
८. आवश्यकसूत्र, चतुर्थ अध्ययन, प्रतिक्रमण, बड़ी संलेखना पाठ, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८५, पृ. ८५
९. तत्त्वार्थसूत्र, ७/३२
१०. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६/२५२

संवेग के मूल रहस्य की जैन दृष्टि

डॉ० समणी मल्लिप्रज्ञा

संवेग की अवधारणा में उसकी संख्या निर्धारण में जटिलता रही है। आधारभूत संवेग का प्रश्न चर्चित है। आधारभूत संवेग हैं तो कितने हैं या नहीं तो क्यों नहीं, ऐसे बिन्दु भी विचारणीय हैं। संवेगों के भेद, प्रभेद, प्रकार और वर्गीकरण में भी अनेक दृष्टियों में मत वैविध्य देखा जाता है। कोई एक तत्त्व जिसे सभी संवेगों का उत्स, स्रोत कहा जा सके, यह प्रश्न भी विमर्शनीय है। पूर्वी और पाश्चात्य चिन्तकों ने इन सभी घटकों पर गहराई से चिन्तन-मनन किया है। प्रस्तुत प्रसंग में जैन-दृष्टि, वैदिक-दृष्टि, बौद्ध-दृष्टि, आयुर्वेदिक-दृष्टि साहित्य-दृष्टि, मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य तथा शरीरशास्त्रीय सन्दर्भ में संवेग की संख्या-निर्धारण सम्बन्धित पहलुओं पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

संवेग का अस्तित्व प्रत्येक कालखण्ड में रहा है। भूत, भविष्य और वर्तमान आदि इन तीनों समयावधि में संवेग का प्रवाह निरन्तर है या फिर यूँ कहा जा सकता है कि संवेग तत्त्व उतना ही पुराना है, जितना पुराना आत्म तत्त्व है। आत्म तत्त्व को शाश्वत माना गया है, उसका त्रैकालिक अस्तित्व है। आत्मा की अमरता का एक हेतु है- शरीर और आत्मा की अभेद बुद्धि जो कि कर्माश्रित है तथा जैन आचार दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध भी अनादिकालीन है। आत्मा के साथ कर्म बंधन में मूल हेतु बनता है- मोह। मोह तत्त्व को अन्यान्य भारतीय दर्शनों में माया, अविद्या आदि शब्दों से कहा गया है। मोह का भी परिचायक मूल शब्द जैन शब्दकोश में मिथ्यात्व अर्थात् अयथार्थ को यथार्थ तथा यथार्थ को अयथार्थ मानना रहा है, जिसे मनोविज्ञान और विज्ञान में deluded perception कहा गया है। हमारे सारे आचार, व्यवहार की तीव्रता, मंदता, शुभता और अशुभता आदि का निर्धारक घटक बनता है मोह का तारतम्य। संवेग के सन्दर्भ में जैनदृष्टि और भारतीय दृष्टि से 'मोह' शब्द की व्याख्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

संवेग के स्वरूप, हेतु और प्रकार आदि के विश्लेषण में एक प्रमुख मुद्दा रहा है- संवेग का मूल किसे मानें या मूल संवेग क्या हो सकता है, जिसके आधार पर उसके अन्य सभी पहलुओं का विस्तार होता है, जैसे बीज से पेड़ का पूरा विस्तार जुड़ा हुआ है। इसी तरह संवेग का वर्गीकरण करते समय मूल संवेग, आधारभूत संवेग तथा उसके भेद-प्रभेद को लेकर अभी तक कोई निर्णायक स्थिति तक नहीं पहुँचा जा सका है, न ही पहुँचने की संभावना नजर आती है। क्योंकि संवेग एक यात्रा है

मंजिल नहीं हैं, प्रवाह है, किनारा नहीं। प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति ने इसे समझने-समझाने का प्रयास किया ताकि संवेग की जटिलता कम हो। उसकी सरलता ही उसे समझने में मदद कर सकती है।

मानव मस्तिष्क की एक महत्वपूर्ण जिज्ञासा रही है कि वह किसी भी वस्तु के मूल को खोजना चाहता है। संवेग के सन्दर्भ में भी यह प्रश्न सदैव उठता रहा है कि मूल संवेग किसे माना जाए, या संवेग का मूल या स्रोत क्या हो सकता है? जैन धर्मदर्शन आत्म-प्रधान रहा है। आत्मा की दो अवस्थाएँ बताई गई हैं- बद्ध और मुक्त। बद्ध का तात्पर्य आत्मा का कर्मयुक्त होना, दुःखी होना है तथा मुक्त का तात्पर्य कर्ममुक्त होने से है। कर्म व्यवस्था को आचार्य महाप्रज्ञ ने आधुनिक भाषा में प्रस्तुत करते हुये कहा है कि आत्मा स्वयं स्वरूपतः तो शुद्ध है, असंवेगी है, लेकिन उसकी अनादिकालीन कर्म संगति के कारण आन्तरिक परिस्थिति के रूप में रागात्मक परिणति होती है, जिससे मैं और मेरापन पैदा होता है। शरीर आदि सांसारिक पदार्थों में अभेद बुद्धि का निर्माण मिथ्यात्व, माया या अविद्या कहलाता है। यह आंतरिक परिस्थिति बाह्य जगत् से जुड़कर हमारे सारे आचार, व्यवहार को नियंत्रित करती है।

जैन मनोविज्ञान का केन्द्र बिन्दु रहा है मोह को समझना तथा उससे अपनी समस्याओं का समाधान करना। मोहकर्म ही सही अर्थ में शत्रु है, क्योंकि सम्पूर्ण दुःखों की प्राप्ति में मोह ही निमित्त बनता है। मोह के समाप्त होने पर शेष सभी कर्मों का व्यापार प्रायः विफल हो जाता है। कुछ कर्म जो वर्तमान जीवन को टिकाने भर का कार्य करते हैं। उनका अस्तित्व होना, न होने जैसा कहा जा सकता है इसलिए मोह गया तो दुःख गया। सभी संवेगों की जड़ मोह में खोजी जा सकती है। 'मोह' शब्द का अनेक सन्दर्भ में प्रयोग हुआ है। उसके विभिन्न रूप बताये गए हैं- राग-द्वेष, मूर्च्छा, आसक्ति, तृष्णा, इच्छा, लोभ, काम, क्रोध, मान, माया, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, मिथ्यात्व, प्रमाद, आकांक्षा, कषाय और योग आदि अर्थों में मोह शब्द का विश्लेषण संवेग के तलस्पर्शी अध्ययन में सहायक सिद्ध हो सकता है। समवाओ में मोह शब्द के ५२ नामों का उल्लेख मिलता है। वे मूलतः इसकी विभिन्न परिणतियाँ हैं या उनको संवेग के प्रकार आदि कहा जा सकता है।^१

डॉ० बलदेव उपाध्याय के अनुसार जैन धर्म आचार पर विशेष बल देता है। जब व्यक्ति का आचार-व्यवहार उचित नहीं होता तब उसे दुःख-होना स्वाभाविक है। जैनधर्म और दर्शन में कर्म की अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या की गई है और सार रूप में यह कहा गया है कि समग्र कर्मों के आत्यन्तिक क्षय होने से मुक्ति मिलती है। यहाँ

पर आत्यन्तिक क्षय का अर्थ है प्राचीन कर्मों के नाश के साथ-साथ नवीन कर्मों का न बंधना।²

यहां कर्म के परिप्रेक्ष्य में मूल संकेत मोहकर्म की ओर ही है, वही दुःख का कारण बनता है तथा उसके समाप्त होने पर ही सदा सुख प्राप्त होता है, जो कि आत्मा का अपना स्वरूप है। भौतिक सुख-दुःख से परे समताभाव की परिणति अर्थात् गीता की स्थितप्रज्ञता, महावीर की समता और आधुनिक भाषा में संवेग से परे की स्थिति, जो कि उच्चतर चेतना का स्तर (higher consciousness) कहा जाता है, जहाँ संवेग परिपक्व (matter) हो जाते हैं। परिपक्व अवस्था में संतुलन कायम हो जाता है। संवेग की उत्तेजक स्थिति समाप्त हो जाती है।

गीता में भी इसी मोह की ओर संकेत किया गया है तथा अर्जुन के मुख से उसका चित्रण बहुत ही हृदयस्पर्शी करवाया गया है। विषादमय अहम् आत्मविश्लेषण की ओर प्रवृत्त होता है। एक ओर तो निम्न स्तरीय मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ खींचती हैं और दूसरी ओर आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ। इस प्रकार अर्जुन के मन में जो द्वन्द्वात्मक स्थिति है, वह व्यक्ति के मन में विरोधी भावों के संघर्ष के कारण उपस्थित मनोदशा का प्रतीक है। यह स्थिति प्रत्येक मनुष्य के मन में उत्पन्न होती है। इसलिए यह जीवन की प्रमुख समस्या है, जिसके समाधान का प्रयास गीता करती है। इस प्रकार गीता के प्रथम अध्याय में विषाद, निराशा और दुःख के कारणों की भूमिका प्रस्तुत की गई है।³

गीता एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है तथा इसमें भारतीय मनोविज्ञान के अनेक तथ्य उजागर हुए हैं। यदि वर्तमान शिक्षा में ऐसे योग ग्रन्थों का अध्यापन, प्रशिक्षण कार्य हो तो न केवल शिक्षक वर्ग ही लाभान्वित होगा। अपितु पूरी मानव जाति को लाभ होगा तथा उन चिन्तकों को नया आलोक मिलेगा जो मानव के आध्यात्मिक आधार से प्रायः अपरिचित हैं।⁴

आध्यात्मिकता का मूल आधार है कर्म सिद्धान्त को समझना। मोह तथा मोह के व्यापार को समझना ताकि मानव मन की गुत्थियों को सुलझाया जा सके। मोह वह है जो मोहित करता है।⁵ इससे चेतना प्रभावित हो जाती है और तदनुसार कार्य करने को मजबूर हो जाती है। जैसे मद्यपान करने वाले का विवेक खो जाता है, वैसे ही मोह एक नशा है, जिससे व्यक्ति को हेय और उपादेय की पहचान नहीं रह पाती है।

आधुनिक मनोविज्ञान में ऐसा कहा गया है कि संवेग की स्थिति में मस्तिष्क उससे प्रभावित होकर प्रतिक्रिया करता है। उस समय विवेक चेतना अर्थात् करणीय और

अकरणीय का भेद नहीं रह पाता है। यह तथ्य मोह की दशा को ही पुष्ट कर रहा है। मोहित व्यक्ति के व्यवहार की विचित्रता का वर्णन करते हुए साहित्य दर्पण में अनेक संवेग के प्रकारों का उल्लेख किया गया है। मोह की दशा में भय, दुःख, आवेश आदि के व्यवहार में विचित्रता पैदा होती है तथा उस स्थिति में अज्ञान, भ्रम, घात, चक्कर आना आदि आचार, व्यवहार भी घटित होते हैं।^६

मोह तत्त्व के कार्यों के आधार पर प्रमुख दो भेद किये गए हैं - १. दर्शन मोह जो व्यक्ति की दृष्टि को अयथार्थ बनाता है, जिससे वह शरीर आदि अनित्य को नित्यरूप, अनात्मा में आत्मबुद्धि तथा दुःख रूप इन्द्रिय विषयों में सुख की कल्पना करता है। उनके संयोग और वियोग में संवेगग्रस्त होता रहता है। २. चारित्र मोह जिसका सीधा सम्बन्ध संवेग चेतना से है। दर्शन या दृष्टि मोह जहां संवेग चेतना का कारण कहा जा सकता है, वहां चारित्र मोह उसका अभिव्यक्त रूप हो सकता है। चारित्र मोह तीन भूमिकाएं ग्रहण करता है- १. मोह २. राग ३. द्वेष। इनमें मोह बीजरूप तथा राग-द्वेष अंकुर रूप में कार्य करते हैं। चारित्र मोह का मूल अर्थ है- आत्मा को राग भाव से क्लृप्त करना। उसमें अविद्या तो दृष्टि मोह में विद्यमान थी ही साथ में राग भाव के जुड़ने से आत्मा के गुण विकृत हो जाते हैं। द्रव्य आत्मा जो शुद्ध स्वरूप है, वह कषाय आत्मा तथा योग आत्मा में परिणत हो जाती है। इनके न्यूनान्धिक के आधार पर चारित्र मोह के दो प्रकार बताये गए हैं - कषाय और नोकषाय। कषाय अर्थात् जो आत्मा के गुणों की हिंसा करने वाले क्रोध आदि परिणाम हैं। कषाय को उकसाने में ईर्ष्य का कार्य करने वाले नोकषाय यानि अल्प कषाय से हास्य आदि पैदा होते हैं।^७

नाट्यशास्त्र में मोह को एक संचारी भाव माना गया है तथा इसको पुष्ट करने वाले अनेक संवेगों का भी वर्णन किया गया है। उन मनोभावों से चित्त में विक्षेप पैदा होता है। स्थूल परिणाम ही बाह्य संवेगों के सहारे स्थूल मोह में होता है। इस स्थिति में मनुष्य को यथार्थज्ञान नहीं रहता है।

संवेग का मूल क्या?

जैन दृष्टि से शेष सारे संवेगों का मूल मोह को माना गया है। यह बीज की भूमिका निभाता है तथा इसका पहला अंकुर राग है जिसे मूल संवेग कहा जा सकता है। सभी प्रकार के संवेगों का उत्स, स्रोत या मूल मोह को माना जा सकता है। पूरे भारतीय दर्शनों में प्रायः सभी संवेगों का मूल कारण मिथ्या दृष्टिकोण तदनुरूप मिथ्या आचरण रहा है। बौद्ध धर्म में मोह को महाक्लेश भूमि कहा गया है।^८ महर्षि पतंजलि के

योगशास्त्र में वर्णित पांच क्लेश जो दुःख रूप हैं, वे सभी अविद्यामूलक ही हैं। ये उनके संवादी कहे जा सकते हैं। इन पांच क्लेशों में क्लेशमूल अर्थात् मुख्य, संवेग अविद्या को ही माना गया है -अविद्या क्लेशमूला।⁸

मूल संवेग क्या है?

संवेग के मूल की चर्चा में मिथ्यादृष्टि और मिथ्या आचरण रूप मोह का विवेचन किया गया है। मोह राग का जनक है। राग को जैनदृष्टि में मूल संवेग सिद्ध किया गया है, क्योंकि मोह तो सूक्ष्मतम तत्त्व है। उससे आत्मा के रागात्मक परिणाम बनते हैं, वे बाद में कषाय, लेश्या, भाव, आचार, व्यवहार आदि रूप धारण करते हैं। राग से हमारे व्यवहार तक की एक शृंखलाबद्ध प्रक्रिया है, जिसे आधुनिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में मनोशरीर के सम्बन्ध को सारे व्यवहार का निर्धारक माना गया है। शरीर विज्ञान के अन्तर्गत जैन-रासायनिक संरचना, मानव-जीन विज्ञान, मस्तिष्क और स्नायु-ग्रंथि-तंत्र आदि घटकों को व्यवहार के लिए जिम्मेदार बताया जा रहा है। सांवेगिक व्यवहार का भी कारण इनके आस-पास ही खोजने का प्रयास चल रहा है।

वास्तव में जीन वातावरण, प्रकृति और पालन-पोषण के अनुसार हमारे आचार, व्यवहार को प्रभावित करने के लिए तदनुरूप संवेगोत्पत्ति में हेतुभूत बनते हैं।⁹ जीन को *unseen cognitive strategies* कहा जा सकता है। यह विचार कार्मण शरीर की रहस्यात्मक लिपि का अनुवाद-सा लगता है। इसीलिए पाश्चिक वृत्तियों के रहते हुए भी हम अवांछित व्यवहार को अनियंत्रित नहीं होने देते हैं। हमारे मस्तिष्क में बन्द करने के स्विच हैं, जो नियंत्रण की रेखा को पार नहीं करने देते। एक सूचना भीतर से आती है- इतना गुस्सा मत करो, इतनी हिंसा मत करो, इतने आक्रामक मत बनो आदि संकेत स्वायत्त नियंत्रण व्यवस्था के वाचक हैं।

राग की तीव्रता और मन्दता हमारे आचार, व्यवहार को प्रभावित करती है इसलिए राग तत्त्व को गहराई से जानना आवश्यक है। इसकी उत्पत्ति का मूल कारण उपर्युक्त वर्णित चारित्र मोह है। वह दो फल देता है। चारित्र मोह के कारण जीव इष्ट पदार्थों के प्रति प्रीतिभाव तथा अनिष्ट पदार्थों के प्रति अप्रीतिभाव अनुभव करता है। यही प्रीति-अप्रीति भाव क्रमशः राग-द्वेष कहलाते हैं।¹⁰

ये ही राग-द्वेष चारित्र मोह शब्द के प्रतिपादक हैं, क्योंकि ये दो तत्त्व इसकी ही परिणति रूप हैं। चारित्र का अर्थ है राग का अभाव, कषाय का अभाव और चारित्र

मोह का अर्थ है आत्मा में राग का भाव, कषाय का भावा इसलिए मूल तत्त्व राग है, जो कि हमारे सारे संवेगों को प्रभावित और प्रस्तुत करने में सक्षम है। जब तक राग है तभी तक संवेग है। राग छूटते ही संवेग छूट जाता है। वीतराग असंवेगी या समता में स्थित अवस्था को परम संवेग कहा जाता है।

महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति के विश्लेषण में स्पष्ट किया है कि चित्त रूपी समुद्र में रागद्वेष रूपी तरंगें, ऊर्मियां उठती रहती हैं। उनसे कभी सुख, कभी दुःख, कभी क्रोध, कभी प्रेम, कभी हर्ष तो कभी शोक आदि उपतरंगें पैदा होती रहती हैं। ये ही वृत्ति का वर्तूल या आवर्त है। इसे निरुद्ध करने के लिए राग-भाव को ही पुरुष से अलग करने का निर्देश दिया है। उसे ही योग कहा है। प्रकृति और पुरुष में अभेद का मूल कारण अविद्या ही है तथा विवेक ख्यातिरूप भेदज्ञान से पुरुष अज्ञानमुक्त स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है। उस स्थिति में राग के अभाव में वृत्तिरूप सारे संवेग थम जाते हैं। शुद्धतम अवस्था प्राप्त हो जाती है। जैन साहित्य के प्रतिनिधि ग्रन्थ आचारांग में कहा गया है “अपेगे चित्ते खलु अयं पुरिसे” अर्थात् आत्मा अनेक चित्त वाली है अर्थात् आत्मा में राग की तरतमता से अनेक वृत्तियाँ जन्मती रहती हैं। इससे आत्मा का स्वभाव, विभाव में बदल जाता है तथा योगत्रय (मन, वचन, काया) की चंचलता भी पैदा हो जाती है। चित्त की गेंद को उछालने वाला राग है। हमारा सारा बदलता व्यवहार, संवेग परम्परा आदि के मूल में राग रहता है।^{१२} द्वेष तो वास्तव में राग का ही उपजीवी है। राग में जब बाधा आती है तब द्वेष प्रकट होता है।^{१३}

‘द्वेष’ शब्द द्विष् धातु और घञ् प्रत्यय से बना है जिसका अर्थ है घृणा, अरुचि, वीभत्स, अनिच्छा और जुगुप्सा।^{१४} मनुष्य का स्वभाव वस्तुओं की ओर आकृष्ट होने का है, इसलिए उन चीजों के प्रति वह ज्यादा जागरूक रहता है, जिससे मैं और मेरापन बढ़े। उन चीजों के प्रति जागरूक नहीं रहता जो घृणास्पद हैं। इस तथ्य में भी राग मूल संवेग है, ऐसा सिद्ध हो रहा है। प्रिय व्यक्ति या वस्तु के चले जाने पर व्यक्ति शोक संताप करता है, उसके लिए परेशान रहता है। इन सबके मूल में तो उसका स्नेह या राग ही कार्य कर रहा है। शोक का मूल है स्नेह।^{१५}

राग शब्द विभिन्न सन्दर्भों में प्रयुक्त होता रहा है। राग की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है। उन हेतुओं से प्रकट राग के भी विविध प्रकार बन जाते हैं। जैसे मत के प्रति रुचि है, वैसा राग पैदा होता है। दृष्टिरंभा, कामराग तथा स्नेहभाव से स्नेह राग पैदा हो जाता है। ‘राग’ शब्द र ज भावे घञ् प्रत्यय से बना है जिसका अर्थ है वर्ण, लाल रंग। भावार्थ है प्रेम, प्रणयोन्माद, स्नेह, काम भावना आदि।^{१६} राग को बन्ध भी कहा गया है, जैसे भंवरा फूलों के पराग से राग करता है, उसकी आसक्ति के

कारण शाम को फूल में ही बन्द हो जाता है। उस फूल को हाथी खा जाता है। भंवरे के लिए यह राग न केवल उसके बंधन का कारण ही बनता है, बल्कि उसका जीवन भी नष्ट कर देता है। राग एक तरह का रेशमी धागा है जो टूटता नहीं अपितु पुनः-पुनः राग भाव से पुष्ट होता रहता है। राग से राग बढ़ता है। उसके साथ उसके सहयोगी संवेग तथा प्रतिकूलता में नकारात्मक संवेग भी बढ़ते जाते हैं। कहा गया है कि “भावो भावं नुदति विषयाद्रागः बंधः स एव।”^{१७}

यही राग अन्यान्य संवेगों की अभिव्यक्ति का कारण बनता है। नाट्यशास्त्र में वैसे तो रस को प्रधान संवेग माना गया है। स्थायी भाव जिनकी संख्या नौ है, उन्हें भी प्रधान संवेग कहा गया है तथा काम को भी मूल संवेग सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। जैन दृष्टि में भी प्रधान संवेगों के अन्तर्गत लोभ को अतिरिक्त प्रधानता दी गई है। अन्य भारतीय साहित्य में तृष्णा को भी मूल संवेग माना गया है। इन सबमें कहीं-कहीं राग का अस्तित्व स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इस दृष्टि से राग को मूल संवेग कहा जा सकता है।

जैन दृष्टि ने कर्म सिद्धान्त पर सर्वाधिक सूक्ष्म और गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया है, वहाँ सभी प्रकार के मोह के भेद, प्रभेद, प्रकार, वर्गीकरण राग की परिक्रमा करते हुए प्रतीत हो रहे हैं, इसलिए भी राग का मूल स्थान सुरक्षित ही नहीं, पुष्ट भी होता है।

थॉमस हॉब्स के अनुसार सारे संवेग (passions) राग-द्वेष के ही प्रकार हैं - All passions are forms of appetite and aversion अर्थात् इष्ट वस्तु के भविष्य में मिलने पर उसके प्रति इच्छा पैदा होती है। अनिष्ट के प्रति भय तथा मिलने पर दुःख होता है तथा उसकी निवृत्ति के लिए क्रोध भी आता है।

जैनागमों में ध्यान के चार प्रकार बतलाये गए हैं, उनमें से प्रथम ध्यान का नाम है आर्त्तध्यान जो राग-द्वेष के कारण ही होता है। उसमें व्यक्ति सदैव प्रिय के संयोग और अप्रिय के वियोग का चिन्तन करता रहता है तथा उसके विपरीत घटित या होने की आशंका में दुःखी बना रहता है इसलिए आर्त्त शब्द का अर्थ किया गया- जो मनोदशा व्यक्ति को दुःख दे या पीड़ा दे वह आर्त्तध्यान है।^{१८} इसका एक अर्थ बीमारी भी किया गया है। यह ध्यान एक तरह की मानसिक बीमारी है जो शारीरिक बीमारियाँ भी पैदा करती है।^{१९} इस मनोदशा वाले व्यक्ति के बाह्य लक्षण भी उसकी संवेग की स्थिति को दर्शाते हैं। उसमें, शंका, शोक, भय, प्रमद, क्लह, चित्तभ्रम, उद्भ्रान्त, विषयों के प्रति उत्सुकता, निरन्तर निद्रा, अंगों में जड़ता, मूर्च्छा आदि मनोदैहिक तथा मानसिक और शारीरिक लक्षण प्रायः संवेगग्रस्त व्यक्तियों में देखे जाते हैं।^{२०}

जहाँ राग होता है, वहाँ द्वेष की नियमा अर्थात् अनिवार्यता रहती है। इन दोनों के कारण मन अत्यधिक विकारों को प्राप्त होता है।^{२१} यहाँ भी अन्य सारे संवेगों का मूल राग-द्वेषात्मक आत्म-परिणाम ही सिद्ध हो रहा है।

बौद्ध धर्म में कर्म के दो प्रकार बताये गये हैं- चेतनापरक जो कि मानस कर्म है तथा चेतयित्वा कर्म अर्थात् कायिक और वाचिक कर्म। हमारे आचार, व्यवहार को मन, वचन, काय तीनों ही घटक प्रभावित करते हैं। उनमें चेतना का भी योग रहता है। संवेग में भी ज्ञान और अभिव्यक्ति दोनों मान्य रहे हैं। ज्ञान की दृष्टि से मानस कर्म तथा अभिव्यक्ति में वचन और काय कर्म का समावेश सहज हो जाता है।^{२२} भगवद्गता में भी चित्त से सारे कर्मों के होने की बात कही गई है- चेतसा सर्वकर्माणि।^{२३}

उपर्युक्त चित्त या चेतना का तात्पर्य अविद्या और तृष्णा से मुक्त अवस्था से है, क्योंकि अविद्या और तृष्णा सारे कर्मों का प्रेरक बल है। तृष्णा को दुःख मूल कहा गया है अर्थात् संवेगों की जननी तृष्णा बनती है जो मोह और राग से उपजी एक लालसावृत्ति है। तृष्णा को आयुर्वेदोपनिषद् में सुख-दुख का कारणभूत माना गया है- तृष्णा च सुखदुःखानां कारणम्।^{२४} एक तृष्णा ही दीर्घ दुःख देने वाली तथा अन्तःकरण को अतिसंकट में योजित करती है।^{२५}

काम-तत्त्व

काव्य और नाट्यशास्त्रों में काम तत्त्व को मूल संवेग के रूप में स्वीकार किया गया है। इस तत्त्व में भी मोह और राग का अस्तित्व तो रहता ही है, राग की एक अभिव्यक्ति कामस्वरूप भी होती है। भरतमुनि ने भावों को कामसंभव माना है।^{२६}

व्यक्ति अपनी इच्छानुसार काम को मदनकाम के रूप में स्त्री की अभिलाषा आदि के द्वारा इस मनोवृत्ति को पूरा करता है। यह काम संवेग बहुत बड़ा संवेग है। इसके अपने अनन्तरूप हैं। फ्रायड ने भी लिबिडो की मनोवृत्ति को मूल माना है तथा इसे अन्य प्रवृत्तियों का प्रेरक बल स्वीकार किया है। काम के परिवेशानुसार प्रशस्त और अप्रशस्त अनेक रूप होते रहते हैं। काम का दूसरा बड़ा प्रकार इच्छा काम कहलाता है। भगवान महावीर ने इच्छा को आकाश के समान अनन्त बताया है। इच्छा के अनुरूप संवेगों की अभिव्यक्ति हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में आती है।

काम से काम कभी शान्त नहीं होता है, जैसे ईंधन से अग्नि कभी शान्त नहीं होती है अपितु वृद्धिगत होती है, वैसे ही काम भोग से काम पुष्ट होता है, काम श्रृंखला बढ़ती जाती है। काम का वेग बहुत तीव्र होता है। उसका सहज शमन कठिन है इसके लिए भगवान ने आहार-संयम, इन्द्रिय-संयम, मनोसंयम, वाणी-संयम आदि षर

काफी बल दिया है। इन उपायों से काम संवेग को नियंत्रित किया जा सकता है। कामक्षय के लिए परम साधना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य की साधना का सारा विकास काम संवेग के प्रबंधन के लिए हुआ है।

काम एक शक्ति है जो व्यक्ति को अर्थोपार्जन तथा भोग भोगने का प्रधान प्रेरक बनती है। पुरुषार्थ चतुष्टय में यह प्रथम पुरुषार्थ है। इसका स्थान हृदय बताया गया है, इसे मन की ज्योति माना है जो कि संकल्प से पैदा होती है। काम पूर्ति पर काम बढ़ता है तथा अपूर्ति में कदम-कदम पर व्यक्ति विषाद प्राप्त करता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में काम का स्थान हृदय बताया गया है, मनोज्योति कहा गया है।²⁹ हृदय का तात्पर्य केन्द्रीय या नाभिकीय संवेग से भी लिया जाता है- जैसे-जैसे हृदय पूरे शरीर को रक्त संचार करता है वैसे ही काम सारे भौतिक विकास में प्राण संचार करता है। सारी सांसारिक प्रवृत्तियों में काम तत्त्व की प्रेरणा प्रायः पाई जाती है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पुण्य और पाप ब्रह्मा की अदृष्ट शक्तियाँ बताई गयी हैं। ये अदृष्ट शक्तियाँ हमारी भावनाओं और संवेगोत्पत्ति में निमित्तभूत बनती हैं, अभिप्रेरणा का कार्य करती हैं।³⁰

संकल्पजा सृष्टि तथा ब्रह्मा से संसारोत्पत्ति की अवधारणा के अनुसार उपर्युक्त संवेगोत्पत्ति की संगति बैठ सकती है। भारतीय साहित्य में काम आदि संवेगों का मुख्य स्थान रूप शरीर के अंगों का भी प्रतिपादन किया गया है। काम हृदय में, क्रोध भ्रुकुटि में तथा लोभ अधोभाग में निवास करता है अर्थात् इन भागों को ज्यादा प्रभावित करते हैं, ऐसा तात्पर्य घटित होता है।³¹

काम को जहाँ तक मूल संवेग मानने की बात है वहाँ इसका व्यापक क्षेत्र घटित होता है और इसे कामवृत्ति जो मैथुनाभिलाषा तक सीमित है, के अर्थ में स्त्रीमतोऽभिलाषा रूप कहा गया है।³²

यह संवेग भी मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी बढ़ती जनसंख्या घटती बढ़ती है तथा इसकी तीव्रता विश्व समाज में नानाविध समस्याएँ पैदा कर रही है। उपाधि, आधि और व्याधिजनित बीमारियों में भी यह एक प्रमुख घटक बनता है। काम संवेग का संयम भी उसे समझे बिना असंभव है। इसलिए कामतत्त्व के व्यापक और सीमित दोनों स्वरूपों को गंभीरता से जानना आवश्यक है ताकि परिधिगत समस्याओं का स्थायी समाधान किया जा सके। नियंत्रित अवस्था से विश्व मानव की रचनात्मक विकास की दर बढ़ सके, व्यक्ति, परिवार, समाज के स्वास्थ्य को कायम रखा जा सके। वांछित मूल्यों के विकास से अमन-चैन परक जीवन शैली का प्रादुर्भाव हो सके।

लोभ तत्त्व

राग का एक रूप लोभ कहलाता है। लोभ को भी मूल संवेग का स्थान दिया गया है। क्योंकि यह लोभवेग अन्य वेगोत्पत्ति में मुख्य भूमिका अदा करता है। लोभ को सभी अनर्थों की खान कहा गया है। लोभपूर्ति के लिए माया वेग का सहारा, लोभ प्रदर्शन के लिए मान वेग पैदा होता है तथा लोभपूर्ति में बाधा क्रोध को जन्म देती है। इस तरह लोभवश व्यक्ति नाना प्रकार के शारीरिक, मानसिक, वाचिक तथा भावात्मक संवेगों का शिकार हो जाता है। उसका आचरण, व्यवहार प्रभावित होता है। लोभ का आवेश जब तीव्रतम होता है तो मानवीय मूल्यों की भी कीमत चुकानी पड़ती है। जानलेवा हिंसक संवेगों का प्रादुर्भाव हो जाता है। लोभ की तीव्रता संवेगों की त्वरा और तीव्रता में कारण बनती है। लोभ ही व्यक्ति में यह मेरा है, यह ममत्व बुद्धि जगाता है। परिग्रह की चेतना पैदा करता है। उससे आसक्ति, मूर्च्छा, गृद्ध परिणाम आदि भावों का निर्माण होता है।^{३१} कहा भी गया है- राग, लोभ और मोह जब मन में उत्पन्न होते हैं तब इस आत्मा में बाह्य परिग्रह ग्रहण करने की बुद्धि होती है।^{३२} कर्मशास्त्रीय दृष्टि से सभी जीवन के केन्द्र में लोभ है।^{३३}

लोभ प्राणिमात्र में पाया जाता है। इसी से स्वामित्व और अधिकार के वेग पैदा होते हैं। साधना के क्षेत्र में भी लोभ को जीतना दुष्कर बताया है क्योंकि बहुत साधना करने के बाद भी उसका अस्तित्व बना रहता है। मोह की इस प्रवृत्ति की समाप्ति साधना की चरम स्थिति में होती है।

लोभ तत्त्व की निरकुंशता विश्व मानव में क्रूरता का भाव उभारती है। स्वार्थ पैदा करती है। अपराध चेतना का भी निर्माण करती है। इसका संवेग इतना तीव्र होता है कि व्यक्ति अंधे जैसा हो जाता है। उसकी विवेक चेतना प्रायः लुप्त हो जाती है। वह स्वपर का अपूरणीय नुकसान कर सकता है।^{३४}

लोभ बढ़ता है तो सारे अपराध बढ़ जाते हैं। लोभ सब अपराधों का मूल है। भावात्मक बीमारियों का कारण भी लोभ बनता है। आयुर्वेद में लोभ के दो परिणाम बताए हैं- जितना लोभ बढ़ेगा उतना-उतना पाचन तंत्र खराब होता चला जाएगा। लोभ का दूसरा परिणाम है- हृदय की दुर्बलता। इस बात पर ध्यान दें जब लोभ बढ़ेगा तब पाचनतंत्र बिगड़ेगा। पाचनतंत्र बिगड़ने से मस्तिष्क का तंत्र प्रभावित होगा। परिणामतः आदमी अपराधी बन जायेगा। लोभ से हिंसा तथा आक्रामकता को बढ़ाने वाले रसायन बनते हैं। व्यक्ति नकारात्मक संवेगों के वशीभूत होकर विनाशकारी प्रवृत्तियों में भाग लेगा। उसका व्यवहार निषेधात्मक बन जायेगा।^{३५}

संदर्भ:

१. मोहणिज्जस्स णं कम्मस्स बावन्नं नामधेज्जा पण्णता तं जहा कोहे....रागे। समवाओ,
५२/१, पृ० २६
२. भारतीय मनोविज्ञान, डॉ० सीताराम, पृ० ३३
३. वही, पृ० २४
४. वही पृ० २८
५. सर्वार्थसिद्धि, ८/४-७३८
६. दशकरूपक, धनंजय, ४/२६; साहित्य दर्पण, ३/१५०
७. षट्खण्डागम, ६/१, ९-११, सूत्र २२-२४/४०-४५, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, ३/३४४
८. अभिधर्मकोश, २६/१२७
९. योगसूत्र २/३,४
१०. Genes are not just passive repositories of ancestral knowledge but dynamically responsive information stores. *The Nature of Emotion*, Paul Ekman, Richard J Davidson, Oxford University Press 1994, p. 20
११. पंचास्तिकाय (तत्त्वप्रदीपिका) १३१, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, ३/३९४
१२. अप्पाणं सरणं गच्छामि, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती प्रकाशन, २००२,
पृ० १७७
१३. *Encyclopaedia of Philosophy*, Vol. I, p. 480
१४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ४८५
१५. मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता, आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन,
चुरु, २०००, पृ० १३४
१६. वाचस्पत्यम् ६/४८००
१७. मालविकाग्निमित्रम्, २१९, संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८५१
१८. सर्वार्थसिद्धि ९/३३-८७४-८७
१९. संस्कृत शब्दकोश, आष्टे, पृ० १५९
२०. ज्ञाताधर्मकथा २५/४३, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, १/२६४
२१. ज्ञाताधर्मकथा, ३/२५
२२. बौद्ध धर्म दर्शन, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ० ३३०
२३. भगवद्गीता, १८/५७, उपनिषद्वाक्यमहाकोश, श्री गजानन शम्भू साध्वले,
चौखम्बा विद्या भवन, १९९६, वाराणसी, पृ.१८६

२४. आयुर्वेदोपनिषद्, ६
२५. उपनिषद्वाक्यमहाकोश, ३२५
२६. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि २२/९५
२७. उपनिषद्वाक्यमहाकोश, पृ. १४६
२८. भावनोपनिषद् ५४, उपनिषद्वाक्यमहाकोश, पृ० १४६
२९. हलायुध कोश, पृ० २१९
३०. न्यायवार्तिक, पृ० २३०
३१. सर्वार्थसिद्धि. ७/१७-६९४
३२. भगवतीआराधना, ११२१/१९१५
३३. अवचेतन मन से संपर्क, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती प्रकाशन, १९९२ पृ० ५४
३४. वही, पृ० ५४
३५. The contribution of Mahapragya to Indian Culture p. 480. (Unpublished)

जैनाचार्यों द्वारा संस्कृत में प्रणीत आयुर्वेद-साहित्य

डॉ० राहुल कुमार सिंह

‘आयुर्वेद’ शब्द ‘आयु’ और ‘वेद’ इन दो शब्दों के योग से बना है। आयु का अर्थ है जीवन और वेद का अर्थ है ज्ञान। अर्थात् जीवन-प्राण या जीवित शरीर के सम्बन्ध में समग्र ज्ञान आयुर्वेद से अभिहित किया जाता है। चरक संहिता में वर्णित है कि आयु के हित-अहित एवं सुख-दुःख का ज्ञान तथा आयु का ज्ञान जिस साधन से हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।¹ इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जिस शास्त्र में आयु का स्वरूप प्रतिपादित किया गया हो, जिस शास्त्र का अध्ययन करने से आयु सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है अथवा जिस शास्त्र के विषय में विचार करने से हितकर आयु, अहितकर आयु, सुखकर आयु और दुःखकर आयु के विषय में जानकारी प्राप्त होती है अथवा जिस शास्त्र के बतलाए हुए नियमों का पालन करने से दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है तथा आयु को बाधित करने वाले रोगों का निदान और उनका प्रतिकार करने के उपायों का वर्णन जिस शास्त्र में किया गया है, उसे आयुर्वेद की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

आयुर्वेद साहित्य को जिस प्रकार वैदिक विचारधारा और वैदिक तत्त्वों ने प्रभावित किया है उसी प्रकार जैन धर्म और जैन विचारधारा ने भी पर्याप्त रूप से प्रभावित कर अपने अनेक सिद्धान्तों से अनुप्राणित किया है। यही कारण है कि जैन वाङ्मय में भी आयुर्वेद शास्त्र का स्वतन्त्र स्थान है। जैन-आयुर्वेद को प्राणावायु कहा जाता है। जैनाचार्यों ने प्राणावायु की विवेचना हेतु लिखा है, ‘जिसमें काय-चिकित्सा आदि अष्टाङ्ग आयुर्वेद, भूतशान्ति के उपाय, विष-चिकित्सा तथा प्राण-अपान वायु का विभाग विस्तारपूर्वक वर्णित हो उसे प्राणावायु कहते हैं।’²

दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अङ्ग-आगम परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका के भेद से पञ्चविध है। इसमें से पूर्वगत या पूर्व नामक भेद चौदह विभागों में विभक्त है। इनमें से बारहवें पूर्व का नाम प्राणावाद या प्राणावायु है। इसी के अन्तर्गत अष्टाङ्ग आयुर्वेद का कथन विस्तार-पूर्वक किया गया है। जैनाचार्यों द्वारा विभिन्न वैद्यक ग्रन्थों के प्रणयन का आधार भी यही ‘प्राणावायु पूर्व’ ही रहा है।

संस्कृत-साहित्य के प्रणयन संवर्द्धन समुन्नति एवं विकास हेतु जैनाचार्यों ने अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। उन्होंने इस साहित्य की लगभग प्रत्येक विधा पर लेखनी चलायी है तथा साहित्य-सर्जन करते समय लोकरुचि का विशेष ध्यान रखा है। जैनाचार्यों ने अध्यात्मविद्या के साथ-साथ धर्म, दर्शन, न्याय,

व्याकरण, कोश, काव्य-छन्द, अलङ्कार, नीतिशास्त्र, ज्योतिष और आयुर्वेद विषयों पर विविध उत्कृष्ट ग्रन्थों का साधिकार प्रणयन कर अपने चरमज्ञान और अब्दुत बुद्धि-कौशल का परिचय दिया है। यह स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने प्रचुर मात्रा में स्वतन्त्र रूपेण आयुर्वेदीय ग्रन्थों का निर्माण कर न केवल आयुर्वेद-साहित्य की अभिवृद्धि में अपना योगदान किया है अपितु जैन-वाङ्मय को भी एक लौकिक विषय के रूप में साहित्यिक विधा से अलंकृत किया है। अतः यह कहना सर्वथा न्यायसङ्गत है कि आयुर्वेद-साहित्य के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गयी सेवा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी अन्य साहित्य के प्रति। इस साहित्य में कतिपय मौलिक विशेषताएँ विद्यमान हैं जो अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। वास्तव में संस्कृत का जैन-वाङ्मय विशाल एवं महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों में संस्कृत पाण्डुलिपियाँ बड़ी संख्या में संगृहीत हैं। अभी तक जैनाचार्यों द्वारा रचित जो ग्रन्थ प्रकाशित हैं वे उनके द्वारा रचित उस विशाल साहित्य का अंश-मात्र ही हैं। इसके अतिरिक्त अनेक अनुपलब्ध ग्रन्थों की जानकारी आचार्यों की अन्यान्य कृतियों एवं विभिन्न माध्यमों से प्राप्त होती है।

कतिपय जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र रूपेण आयुर्वेदीय ग्रन्थों के निर्माण के स्थान पर अपने अन्य विषयक ग्रन्थों में यथा प्रसङ्ग आयुर्वेद सम्बन्धी अन्यान्य विषयों का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ - सोमदेव सूरि का 'यशस्तिलकचम्पू' तथा 'नीतिवाक्यामृतम्' पं० आशाधर द्वारा अष्टाङ्गहृदय पर टीका लेखन इत्यादि। आचार्य राजकुमार जैन ने आयुर्वेद के प्रति जैनाचार्यों के योगदान को तीन प्रकार से विभाजित किया है- स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना के रूप में, अपने अन्य विषय वाले ग्रन्थों में प्रसंगोपात्त वर्णन के रूप में तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों के टीका के रूप में।³

प्राणावाय-परम्परा का साहित्य

प्राणावाय की परम्परा के जनसामान्य तक पहुँचने का स्पष्ट वर्णन आचार्य उग्रादित्य के ग्रन्थ कल्याणकारक की 'प्रस्तावना' में प्राप्त होता है जो इस प्रकार है- "भगवान आदिनाथ के समवसरण में उपस्थित होकर भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने मानवों के व्याधिरूपी दुःखों का वर्णन कर उनसे छुटकारा प्राप्ति का उपाय पूछा। इस पर भगवान ने अपनी वाणी में उपदेश दिया। इस प्रकार प्राणावाय का ज्ञान तीर्थंकरों से गणधरों ने, उनसे प्रतिगणधरों ने, उनसे श्रुतकेवलियों ने और उनसे बाद में होने वाले अन्य मुनियों ने क्रमशः प्राप्त किया।"⁴

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणावाय का विपुल साहित्य प्राचीन काल में अवश्य विद्यमान रहा होगा किन्तु यह प्राचीन परम्परा मध्ययुग से पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी।

कारण कि आठवीं शती के अन्त में आचार्य उग्रादित्य द्वारा रचित 'कल्याणकारक' ही प्राणावायु सम्बन्धी एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है।⁴ इस ग्रन्थ में प्राणावायु सम्बन्धी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का नामोल्लेख हुआ है। उसमें लिखा है- पूज्यपाद ने शालाक्य पर, पात्रस्वामी ने शल्यतन्त्र पर, सिद्धसेन ने विष और उग्रग्रहशमन विधि पर, दशरथ गुरु ने कायचिकित्सा पर, मेघनाद ने बालरोगों पर और सिंहनाद ने वाजीकरण और रसायन पर वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी। इसी ग्रन्थ में आगे यह भी कहा गया है कि- समन्तभद्र ने विस्तारपूर्वक आयुर्वेद के आठों अंगों पर ग्रन्थ रचना की थी। समन्तभद्र के अष्टांग विवेचन पूर्ण ग्रन्थ के आधार पर ही उग्रादित्य ने संक्षेप में अष्टाङ्गयुक्त 'कल्याणकारक' नामक ग्रन्थ की रचना की।⁵

प्राणावायु की परम्परा और शास्त्र ग्रन्थों का परिचय देने वाले इस ग्रन्थ के अलावा किसी भी आचार्य या विद्वान् ने प्राणावायु का उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। मध्ययुग में प्राणावायु के लुप्त होने के कई संभावित कारण हो सकते हैं।

तदुपरान्त ईशा की तेरहवीं शती से हमें जैन श्रावकों और यति-मुनियों द्वारा निर्मित स्वतन्त्र आयुर्वेदीय ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस दौरान कतिपय जैनाचार्यों द्वारा रचित अन्य विषयक ग्रन्थों में यथा प्रसंग आयुर्वेद की चर्चा प्राप्त होती है जिसका वर्णन आगे किया जाएगा। ये ग्रन्थ प्राणावायु-परम्परा के नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें कहीं पर भी प्राणावायु का उल्लेख नहीं है। इनमें पाये जाने वाले रोग निदान, लक्षण, चिकित्सा आदि का वर्णन आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों के समान है। ये ग्रन्थ संकलनात्मक और मौलिक दोनों प्रकार के हैं। प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों पर देशीभाषा या संस्कृत में रचित कुछ टीका ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। कुछ पद्यमय भाषानुवाद मात्र हैं। वर्तमान में पाये जाने वाले अधिकांश ग्रन्थ उपरोक्त कोटि के हैं। जैन परम्परा में इस प्रकार का साहित्य यतियों और भट्टारकों के आविर्भाव के बाद प्रकाश में आया है।

जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत आयुर्वेदीय ग्रन्थ

आयुर्वेद के स्वतन्त्र (मौलिक) ग्रन्थ, ग्रन्थों पर टीकाएँ, संग्रह ग्रन्थ और योग ग्रन्थों की रचना कर जैनाचार्यों ने भारतीय वैद्यक के इतिहास में स्वयं को अमर बना दिया है। वर्तमान में जिन ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त होती है उनके अनुसार जैनाचार्यों ने आयुर्वेद के ग्रन्थों का प्रणयन प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़ और हिन्दी, इन चार भाषाओं में किया है।

उपरोक्त सन्दर्भ में श्री अगरचन्द नाहटा,⁶ पं० के० भुजबलि शास्त्री, पं० नाथूराम प्रेमी एवं आचार्य राजकुमार जैन⁷ ने कई तालिकाएँ तैयार की हैं, जिनके द्वारा अनेक

कृतियों की जानकारी प्राप्त होती है। इन तालिकाओं के आधार पर जैनाचार्यों द्वारा रचित संस्कृत के आयुर्वेद ग्रन्थों की एक संक्षिप्त जानकारी प्रदान करने का प्रयास किया जा रहा है।

सिद्ध नागार्जुन : (दूसरी एवं तीसरी शती)

ये आचार्य पादलिप्त सूरि के शिष्य थे। इनको सिद्ध इसलिए कहा जाता था कि इन्होंने तन्त्र-मन्त्र और रसविद्या में सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। ये बौद्ध नागार्जुन से भिन्न हैं। इनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'योगरत्नमाला' नामक वैद्यक ग्रन्थ है। इस कृति पर जैन विद्वान् गुणाकर सूरि द्वारा वि० सं० १२९६ में संस्कृत में ही एक वृत्ति की रचना हुई है। इसकी जानकारी पिटर्सन के रिपोर्ट से होती है।^१

आचार्य समन्तभद्र : (चौथी-पाचवीं शती)

इनके द्वारा रचित 'सिद्धान्त रसायन कल्प' नामक अनुपलब्ध ग्रन्थ का पता 'कल्याणकारक' (उग्रादित्याचार्य) के आधार पर चलता है जिसके अवतरण यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। इन्हें यदि एकत्रित कर दिया जाय तो यह दो-तीन हजार श्लोक-प्रमाण हो सकता है।^{१०} कुछ विद्वान् इसे अठारह हजार श्लोक-प्रमाण मानते हैं। 'कल्याणकारक' (उग्रादित्याचार्य) में इसके अवतरण संस्कृत में प्राप्त होते हैं। परन्तु पं० के० भुजबलि शास्त्री ने जो सूची दी है उसमें इसे प्राकृत भाषा का बतलाया है। इसके अतिरिक्त उनकी एक अन्य अनुपलब्ध कृति 'अष्टांगसंग्रह' का पता चलता है जिसका अनुसरण करके 'कल्याणकारक' ग्रन्थ संक्षेप में रचा गया। इसकी भाषा का पता नहीं चल पाया है। इनके द्वारा इस विषय पर कन्नड़ लिपि में रचित एक अन्य ग्रन्थ 'पुष्यायुर्वेद' का भी पता चलता है।

आचार्य पूज्यपाद : (४६४ - ५२४ ई०)

इनके द्वारा रचित 'कल्याणकारक' नामक संस्कृत वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख प्राप्त होता है जो अनुपलब्ध है, किन्तु त्रोटक प्रकरण कहीं-कहीं उपलब्ध होते हैं। इसमें प्राणियों के देहज दोषों को नष्ट करने की विधि बताई गयी है। इसमें जैन प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए जैन तीर्थकरों के भिन्न-भिन्न चिह्नों के आधार पर परिभाषाएँ बताई गयी हैं। जैसे- मृग से १६ का अर्थ लिया गया है क्योंकि सोलहवें तीर्थकर का लांछन मृग है।^{११}

इन्हीं के द्वारा रचित 'पूज्यपादीय' नामक ग्रन्थ का पता 'वसवराजीयम्' नामक ग्रन्थ के आधार पर चलता है, इसमें अधिकांश रसयोग का वर्णन है।^{१२} इनके द्वारा संस्कृत में रचित अन्य अनुपलब्ध ग्रन्थ हैं- 'वैद्यक योगसंग्रह' एवं 'रसतन्त्र'।

‘पूज्यपादवैद्यक’ एवं ‘वैद्यकशास्त्र’ नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख उपलब्ध ग्रन्थों की सूची में प्राप्त होता है।

राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थागार, मद्रास में उपलब्ध पूज्यपाद द्वारा रचित अन्य ग्रंथों³³ में एक ग्रंथ ‘मदनकामरत्नम्’ है जिसको कामशास्त्र का ग्रन्थ भी कह सकते हैं क्योंकि हस्तलिखित प्रति के चौसठ पत्रों में से केवल बारह पत्र तक ही महत्त्वपूर्ण चन्द्रोदय, लोह, अग्निकुमार, ज्वरबल फणिगरुड, कालकूट, रत्नाकर, उदयमार्तण्ड, सुवर्णमाल्य प्रतापलकेश्वर, बाल सूर्योदय और अन्य ज्वरादि रोगों के विनाशक रसों का तथा कर्पूर-गुण, मृगहार भेद, कस्तूरी भेद, कस्तूरीगुण, कस्तूरी परीक्षा आदि का वर्णन है। शेष पत्रों में वाजीकरण, औषध, तेल, लिङ्गवर्धन लेप, पुरुषवश्यकारी औषध, स्त्री-वश्य भैषज, मधुर स्वरकारी औषध के निर्माण की विधि बताई गयी है।³⁴ यह ग्रन्थ पद्यबद्ध एवं अपूर्ण है। इसके अतिरिक्त ‘निदानमुक्तावली’ तथा इसपर स्वोपज्ञ भाष्य ‘सिद्धान्ति-भाष्यम्’, ‘समाधिशतक’, ‘रसरत्नाकर’, ‘रूदन्यादिकल्प’, ‘औषधयोग’ ग्रन्थ एवं ‘मदस्नुहीरसायनम्’ नामक ग्रन्थ भी इनके द्वारा रचित हैं।

इस दृष्टि से आयुर्वेद जगत् में आचार्य पूज्यपाद ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वे इस विभाग के चमकते हुए सूर्य सिद्ध हुए हैं। उनकी उपकृति के लिए जैन समाज चिर-ऋणी रहेगा।

गोम्मटदेव मुनि

ये ‘मेरुतन्त्र’ या ‘मेरुदण्डतन्त्र’ नामक अनुपलब्ध ग्रन्थ के रचयिता माने जाते हैं।³⁵ इन्होंने इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में पूज्यपाद स्वामी का बहुत ही आदर के साथ स्मरण किया है। परन्तु पं० के० भुजबलि शास्त्री द्वारा प्रदत्त सूची में मेरुतन्त्र का कर्ता मेरुतुंग को माना गया है।³⁶

अकलङ्कः (८वीं शती)

पं० के० भुजबलि शास्त्री द्वारा प्रदत्त सूची में आयुर्वेद शास्त्र पर इनकी दो संस्कृत रचनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है जो अनुपलब्ध हैं, ये हैं - ‘विद्याविनोद’ एवं ‘अकलङ्क संहिता’³⁷।

उग्रादित्याचार्य : (९ वीं शती)

तदनन्तर आयुर्वेद ग्रन्थकारों की श्रेणी में उग्रादित्याचार्य का नाम अत्यन्त ही आदर के साथ लिया जा सकता है। इनके द्वारा संस्कृत में ‘कनक प्रदीप’, ‘भिक्षुप्रकाश’ ‘रामविनोद’, ‘जगत्सुंदरी’ एवं ‘कल्याणकारक’ नामक ग्रन्थों का सृजन हुआ है।

पूर्वोक्त ग्रन्थों में से केवल कल्याणकारक ही उपलब्ध हो पाता है।^{१८} यह ग्रन्थ ही प्राणावायु की परम्परा के ज्ञान का प्रमुख आधार है। आठवीं शती में रचित यह अष्टाङ्ग ग्रन्थ पच्चीस परिच्छेदों में विभक्त होने के साथ-साथ अरिष्टाध्याय एवं संहिताध्याय नामक दो परिशिष्टों से परिपूर्ण है। यह लगभग पाँच हजार श्लोक प्रमाण है। आयुर्वेद की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त ही उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में औषध में मांस की निरुपयोगिता को सिद्ध किया गया है। यह परिसंवाद ग्रन्थकार के द्वारा राजा अमोघवर्ष के दरबार में सैकड़ों विद्वानों व वैद्यों की उपस्थिति में सिद्ध किया गया था। यह परिसंवाद ग्रन्थ के अन्त में हिताहित नामक परिशिष्ट रूप में संस्कृत गद्य में दिया गया है।^{१९}

महाकवि धनञ्जयः (वि० सं० ९६०)

ये दिग्म्बर श्रावक विद्वान् थे। आयुर्वेद पर इनके द्वारा रचित मुख्य ग्रन्थ हैं - 'धनञ्जय निघण्टु' (नाममाला) और 'विषापहार स्तोत्र'।^{२०} 'धनञ्जय निघण्टु' वैद्यक के साथ-साथ कोश ग्रन्थ भी है। 'विषापहार स्तोत्र' के सन्दर्भ में प्रचलित है कि कवि के पुत्र को सर्प ने डँस लिया था अतः सर्प विष को दूर करने के लिए ही इस स्तोत्र की रचना की गयी। इस ग्रन्थ में चालीस इन्द्रवज्रा छन्द हैं, अन्तिम पद्य का छन्द भिन्न है जिसमें ग्रन्थकर्ता ने अपना नाम दिया है। ग्रन्थ का नामकरण चौदहवें पद्य में आये 'विषापहार' शब्द से हुआ है। इस स्तोत्र पर नागचन्द्र सूरि और पार्श्वनाथ गोम्मट कृत टीकाएँ प्राप्त हैं।^{२१}

इसके अतिरिक्त पं० के० भुजबलि शास्त्री की सूची में 'वैद्यक निघण्टु' नामक अनुपलब्ध ग्रन्थ इनके द्वारा रचित बताया गया है।^{२२} आचार्य राजकुमार शैल ने इनके द्वारा रचित दो अन्य ग्रन्थों - 'निघण्टु समय' और 'निघण्टु शेष' का उल्लेख किया है परन्तु इनकी उपलब्धता पर प्रश्नचिह्न लगाया हुआ है।^{२३}

गुणभद्रः (शक सं० ७३७)

इन्होंने 'आप्तमानुशासन' की रचना की है, जिसमें आद्योपान्त आयुर्वेद के शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा शरीर के माध्यम से आध्यात्मिक विषय को समझाया गया है। इनका वैद्यकज्ञान किसी भी वैद्य से कम नहीं था।

सोमदेव सूरिः (१०वीं शती)

इनके द्वारा रचित 'यशस्तिलकचम्पू' में स्वस्थवृत्त का अच्छा वर्णन प्राप्त होता है जिससे इनके आयुर्वेद ज्ञान का पता चलता है। इन्होंने वनस्पति शास्त्र का भी अच्छा

48 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 3, जुलाई-सितम्बर, 2015

ज्ञान था क्योंकि इन्होंने शिखण्डी ताण्डव वन की औषधियों का वर्णन किया है। ये रसशास्त्र के ज्ञाता थे।

आचार्य हेमचन्द्र : (१२वीं शती)

इनकी विलक्षणता सर्वविदित है। इन्हें इसी कारण 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि प्रदान की गयी थी। मानव जीवन की लगभग प्रत्येक विधा पर इनकी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। जैन आयुर्वेद-साहित्य को इन्होंने अपनी कृति 'निघण्टुशेष' से उपकृत किया है। यह आयुर्वेदीय औषधि-वृक्षों और पौधों पर एक उत्तम रचना है जो कोश ग्रन्थ के रूप में है। इसमें वनौषधियों के नाम-पर्याय दिये गये हैं जो छः काण्ड में हैं- वृक्ष काण्ड (१८३२ श्लोक), गुल्मकाण्ड (१०४ श्लोक), लताकाण्ड (४५ श्लोक), शाक काण्ड (३४ श्लोक), तृण काण्ड (१७ श्लोक) और धान्यकाण्ड (१५ श्लोक)।^{२५} इसके अतिरिक्त इसमें रुद्राक्ष, पुत्रजीव, चाणक्यमूलक, यावनाल आदि द्रव्यों का भी उल्लेख हुआ है।

गुणाकर सूरि: (१३वीं शती)

इन्होंने सं० १२९६ में नागार्जुन कृत 'योगरत्नमाला' (आश्चर्य योगमाला) पर विवृति या लघुवृत्ति नामक टीका लिखी है। इन्हें आचार्य हेमचन्द्र का प्रशिष्य कहा जाता है। ये वनस्पतिशास्त्र और तन्त्र विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इस टीका में अनेक तान्त्रिक शब्दों और प्रयोगों का स्पष्टीकरण बहुत कुशलता से किया गया है। इससे उनका इस विद्या में प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध होता है।^{२५}

पं० आशाधर : (१२४० ई०)

जैन-साहित्य के क्षेत्र में यह अपने समय के दिगम्बर सम्प्रदाय के बहुश्रुत प्रतिभा सम्पन्न और महान ग्रंथकर्ता के रूप में प्रकट हुए हैं। धर्म और साहित्य के अतिरिक्त न्याय, व्याकरण, काव्य, अलङ्कार, भोग, वैद्यक आदि अनेक विषयों पर इनका अधिकार था और इनके द्वारा रचित विशाल साहित्य भी प्राप्त होता है। इन्होंने वाग्भट्ट के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टाङ्ग हृदय' पर 'उद्योतिनी' या 'अष्टाङ्गहृदयोद्योतिनी' नामक संस्कृत टीका लिखी थी जो अप्राप्य है। इसका उल्लेख हरिशास्त्री पराङ्का और पी० के० गोड़े ने किया है। यह टीका बहुत महत्त्वपूर्ण थी। आशाधर की ग्रन्थ प्रशस्ति में इसका उल्लेख है- "आयुर्वेदविदामिष्टं त्यक्तु वाग्भट्टं संहिता। अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः॥"^{२६} इनके वैद्यक ज्ञान का प्रमाण इनके 'सागारधर्मामृत' में मिलता है, जो इन्हें एक विद्वान् वैद्य की श्रेणी में लाता है।

वीरसिंह देव : (१३वीं शती)

इन्होंने चिकित्सा की दृष्टि से ज्योतिष का महत्त्व लिखा है।^{२७} जैन-ग्रंथावली में इनके द्वारा रचित 'वीर सिंहावलोक' का उल्लेख है।^{२८}

चम्पक : (१३वीं शती)

इनके द्वारा रचित 'रसाध्याय' या 'कंकालयरसाध्याय' नामक ग्रन्थ मिलता है। इसका रचनाकाल एवं स्थान अज्ञात है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि चम्पक रसविद्यानिपुण, उज्ज्वल कीर्तिवान्, यशस्वी और नित्यपरोपकार में तल्लीन रहने वाले हैं। यह स्वतन्त्र रचना न होकर ग्रंथकार के अनुसार 'कंकालाध्याय' का वार्तिक है। इस ग्रन्थ में कुल ३८० पद्य हैं। यह ग्रन्थ पं० रामकृष्ण शर्मा कृत संस्कृत टीका सहित काशी संस्कृत सिरीज, चौखम्बा, बनारस से सं० १९८६ में प्रकाशित हो चुका है।^{२९}

मेरुतुङ्ग : (सन् १३८६ ई०)

इन्होंने चम्पक के 'कंकालयरसाध्याय' पर टीका लिखी है। यह ग्रन्थ भी काशी संस्कृत सिरीज में छप चुका है।^{३०}

अनन्तदेव सुरि : (१४वीं-१५वीं शती)

इनके द्वारा रचित 'रसचिन्तामणि' नामक ९०० श्लोकों वाला रसशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ का पता चलता है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना (ग्रन्थांक-१९२, १९३) में सुरक्षित हैं।^{३१}

माणिक्य चन्द्र जैन : (१४वीं-१५वीं शती)

इनके द्वारा रचित 'रसावतार' नामक रस सम्बन्धी ग्रन्थ प्राप्त होता है। इसकी हस्तलिखित प्रति किसी वैद्य यादवजी विक्रमजी आचार्य के पास है। भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना में (ग्रथांक ३७३/१८८२-८३) यह मौजूद है।^{३२}

पूर्णसेन : (१६वीं शती)

इन्होंने वररुचि कृत 'योगशतक' पर संस्कृत टीका लिखी है। इसकी भी हस्तलिखित प्रति भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना में (ग्रन्थांक १८५, १०७३/१८८६-९२) विद्यमान है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में भी इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।^{३३}

50 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 3, जुलाई-सितम्बर, 2015

श्रीकण्ठ सूरि : (१६वीं शती)

जैन आयुर्वेद पर इनकी 'हितोपदेश' या 'वैद्यक सार-संग्रह' नामक कृति है जो वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से छप चुकी है।^{३५}

भिषक् शिरोमणि हर्षकीर्ति सूरि

इनका समय ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। यद्यपि इन्हें १६०० ई० के आसपास का माना जाता है।^{३५} ये नागपुरीय तपागच्छीय चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे और मानकीर्ति भी इनके गुरु थे। इन्होंने 'योगचिन्तामणि' और 'व्याधिनिग्रह' ग्रन्थ की रचना की है। दोनों उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। इनके साहित्य में चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट्ट का सार है। दोनों ही ग्रन्थ चिकित्सा के लिए उपयोगी हैं। इनमें कुछ नवीन योगों का मिश्रण है जो इनके स्वयं के चिकित्साज्ञान की महिमा का द्योतक है। यह ग्रन्थ जैनाचार्य की रक्षा हेतु लिखा गया है।^{३६}

हस्तिरुचि गणि : (१७वीं शती)

ये तपागच्छ के प्राज्ञोदयरुचि के शिष्य हितरुचि के शिष्य थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'वैद्यवल्लभ' की रचना ई० सन् १६७० में की।^{३७} यह चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। इसमें स्त्रियों के लिए गर्भपात तथा गर्भ निवारण के अनेक योगों तथा स्त्रियों से सम्बन्धित अनेक रोगों का भी वर्णन है। विषशान्ति के उपाय भी बताए गये हैं। वि. सं. १७२९ में मेघभद्र द्वारा इस पर संस्कृत टीका भी लिखी गयी है। आयुर्वेद के क्षेत्र में इनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

हंसराज मुनि : (१७वीं शती)

ये खरतरगच्छीय वर्द्धमान सूरि के शिष्य थे। इनका 'भिषक्चक्रचित्तोत्सव' जिसे 'हंसराजनिदान' भी कहते हैं, चिकित्सा विषयक ग्रन्थ है जो प्रकाशित हो चुका है।^{३८}

महेन्द्र जैन : (१७वीं शती)

ये कृष्ण वैद्य के पुत्र थे। इन्होंने वि. सं. १७०९ में 'धन्वन्तरि निघण्टु' के आधार पर उदयपुर में 'द्रव्यावली समुच्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनका नाम महेन्द्र भोगिक भी मिलता है।^{३९} आनन्दाश्रम प्रेस, पूना (१९२५) से प्रकाशित 'धन्वन्तरि निघण्टु' में द्रव्यावली भी समन्वित है। भण्डारकर इन्स्टीट्यूट में 'द्रव्यावली' की आठ प्रतियाँ मौजूद हैं।

रामलाल महोपाध्याय : (२० वीं शती)

ये बीकानेर के निवासी और धर्मशील के शिष्य थे। ये जैन खरतरगच्छ के जिनदत्तसूरि शाखा के अनुयायी थे। इनका एक वैद्यक ग्रन्थ 'रामनिदानम्' या 'रामनृद्धिसार' नाम से संस्कृत में पद्यबद्ध प्राप्त होता है।^{१०}

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्तलिखित सूचियों के आधार पर संस्कृत में रचित आयुर्वेदशास्त्रीय अन्य अनुपलब्ध ग्रन्थों का भी पता चलता है। जैसे- नारायण शेखर जैन द्वारा रचित- 'योग-रत्नाकर वैद्यवृन्द', 'वैद्यामृत', 'ज्वर निर्णय', 'ज्वर त्रिशती' की टीका और 'रत्नाकर औषधयोग' ग्रन्थ तथा धन मित्र का 'वैद्यक निघण्टु', वाग्भट्टाचार्य का 'प्रयोग-संग्रह' एवं रामचन्द्र की 'प्रयोग चन्द्रिका'।

इस प्रकार प्रस्तुत लेख में जैन विद्वानों द्वारा आयुर्वेद सम्बन्धी जो रचनाएँ रची गयी हैं उनपर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। यदि विशेष शोधकार्य किया जाय तो इस पर बहुत सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचित ग्रन्थों के व्यावहारिक पक्ष को देखें तो स्पष्ट है कि जैन विद्वानों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर ही मुख्य रूप से चिकित्साशास्त्र का प्रतिपादन किया है। जैसे- अहिंसा के आदर्श पर उन्होंने मद्य, मांस और मधु के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया है। क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। 'कल्याणकारक' में इसका युक्तियुक्त विवेचन प्राप्त होता है। किन्तु इसके प्रतिफल स्वरूप शल्यचिकित्सा जैन आयुर्वेद में अप्रचलित सी हो गयी और रसयोगों एवं सिद्धियों का बाहुल्येन उपयोग होने लगा। भारतीय वैद्यक शास्त्र की परम्पराओं के आधार पर रोग-निदान के लिए नाड़ी-परीक्षा, मूत्र-परीक्षा आदि को जैन विद्वानों ने विशेष मान्यता प्रदान की। वनस्पति एवं खनिज द्रव्यों से निर्मित योगों का जैन विद्वानों द्वारा विशेष प्रचलन किया गया।

हम देखते हैं कि धर्म और दर्शनशास्त्र ने जिसप्रकार जैन संस्कृति के स्वरूप को अक्षुण्ण बनाया है, आचार और नीतिशास्त्र ने जिसप्रकार इसकी उपयोगिता को उद्भाषित किया है, उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र ने भी स्वास्थ्य प्रतिपादक सिद्धान्तों एवं संयमपूर्वक आहारचर्या आदि के द्वारा जैन धर्म एवं संस्कृति को व्यापक एवं लोकोपयोगी बनाने में अपना अपूर्ण योगदान दिया है। जैन आचार्यों ने आयुर्वेद साहित्य का लेखन तथा व्यवहार समाजहित के लिए किया है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आयुर्वेद-वाङ्मय के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गयी सेवा उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी अन्य साहित्य के प्रति। किन्तु क्षोभप्रद यह है कि जैनाचार्यों द्वारा

52 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 3, जुलाई-सितम्बर, 2015

रचित ग्रन्थों का शतांश भी अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। इसका एक कारण तो यह है कि उनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ या तो लुप्त हो गये हैं या खण्डित रूप में होने से अपूर्ण हैं। काल-कवलित हुए अनेक वैद्यक ग्रन्थों का उल्लेख विभिन्न आचार्यों की वर्तमान में उपलब्ध अन्यान्य कृतियों में मिलता है। विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों तथा जैन-मंदिरों में खोजने पर अनेक वैद्यक ग्रन्थों के प्राप्त होने की सम्भावना है। अतः जैन समाज तथा विद्वानों को इस भारतीय ज्ञान के विकास हेतु आवश्यक प्रयत्न करना चाहिए।

सन्दर्भ :

१. हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च युतोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ चरकसंहिता, १/४१
२. कायचिकित्साघट्टाङ्ग आयुर्वेदः भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रमः। प्राणापान विभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् ॥ तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/२०
३. आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १७८ उद्धृत- जैन ई-लाइब्रेरी.ओआरजी
४. जैन आयुर्वेद का इतिहास, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद भटनागर, सूर्य प्रकाशन संस्थान, उदयपुर, १९८४, पृ० १५-१६
५. वही, पृ० १७
६. कल्याणकारक, २०/८५-८६
७. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-४, किरण-२
८. आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १८१-८२
९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-५, पं. अम्बालाल प्रे० शाह, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी, १९९३, पृ० २२८
१०. वही, पृ० २२६
११. वही, पृ० २२८
१२. जैन आयुर्वेद का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ० ४६-४८
१३. वही पृ० ४९-५१
१४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-५, पूर्वोक्त, पृ० २२७
१५. वही पृ० २२८, कल्याणकारक, प्रस्तावना, पृ० ३८ उद्धृत-जैन आयुर्वेद का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ० ५३
१६. आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, पूर्वोक्त, पृ० १८१
१७. वही, पृ० १८१

१८. इसका प्रकाशन सोलापुर से सेठ गोविन्द जी रावजी दोशी ने सन् १९४० में किया है। इसमें मूल संस्कृत पाठ के अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित है।
१९. जैन आयुर्वेद का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ० ५३-७१
२०. वही, पृ० ८७-८८
२१. वही
२२. आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, पूर्वोक्त, पृ० १८१
२३. वही, पृ० १८२
२४. वही, पृ० ९२
२५. जैन आयुर्वेद का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ० ९४-९५
२६. पं० चैनसुख दास स्मृतिग्रन्थ, पृ० २७९-८१
२७. जैन जगत्, नवम्बर १९७५, पृ० ५१
२८. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, आचार्य प्रियव्रत शर्मा, पृ० ३६०
२९. जैन आयुर्वेद का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ० १००-०२
३०. वही, पृ० १०४
३१. वही, पृ० १०५
३२. वही, पृ० १०६
३३. वही, पृ० १०७-०८
३४. वही, पृ० १०७
३५. वही, पृ० ११३
३६. जैन जगत्, नवम्बर, १९७५, पृ० ५२
३८. जैन आयुर्वेद का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ० १२३
३९. वही, पृ० ८९
४०. वही, पृ० १७४

जैन आचार का स्वरूप एवं लक्ष्य

डॉ. अनिल कुमार सिंह

जैनशास्त्र से तात्पर्य उस शास्त्र से है जिसका प्रणयन विद्वान्-मुनियों ने जैन परम्परागत चौबीस तीर्थकरों के उपदेश उनके साक्षात् शिष्य गणधरों से ग्रहण कर किया है। इस बात में किसी संदेह की गुंजाइश नहीं है कि ऋषभ आदि चौबीस तीर्थकर ऐतिहासिक पुरुष हैं। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की सिन्धु सभ्यता जैन संस्कृति की प्राचीनता पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। सिन्धु सभ्यता का समय ई.पू. ३००० माना जाता है। मोहनजोदड़ो के घरों में वेदिका का अभाव दिखाई देता है। साथ ही वहाँ पर बहुत से नग्न चित्र तथा नग्न मूर्तियाँ भी मिली हैं जिन्हें तपस्वी योगियों के चित्र अथवा मूर्तियाँ माना जा सकता है। मूर्तिवाद और नग्नता जैन संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ हैं।^१

चौबीस जैन तीर्थकरों ने कठोरतम तपस्या के द्वारा आत्म-कल्याणार्थ केवलज्ञान प्राप्त कर मानव जीवन का लक्ष्य निरूपित किया तथा उसकी जानकारी जन-जन तक पहुँचायी। बाद में अन्य विद्वान् मुनियों द्वारा उनके उपदेशों को सुबोध भाषा में लिपिबद्ध कर संकलित किया गया और उनकी व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की गयीं।

जैन-आचार का आधार

जैन परम्परा की आचार-संहिता का आधार आत्मा है।^२ जबतक आत्म-साक्षात्कार नहीं होता तबतक श्रद्धापूर्वक आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति आचार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देती है। आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की स्वीकृति हो जाने एवं संसारावस्था में कर्म के कारण उसका परिभ्रमण हो रहा है, जब यह तथ्य अवगत हो जाता है, तब साधना का प्रारम्भ हो जाता है।

जैनाचार की विशेषता

जैनाचार की प्रमुख विशेषता समता है- 'समियाए धम्मो।'^३ जो समतावान होता है, वह पापकारी प्रवृत्ति नहीं करता है। वस्तुतः राग-द्वेष रहित कर्म ही आचार है। समता दो प्रकार की है- स्वनिश्चित और परनिश्चित। राग और द्वेष के उपशमन के द्वारा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में संतुलित अनुभूति करना स्वनिश्चित समता है। सब प्राणी सुख के इच्छुक और दुःख के विरोधी हैं, इसलिए कोई भी वध के योग्य नहीं है, यह आत्मतुला परनिश्चित समता है। स्वनिश्चित समता की सिद्धि के लिए महावीर ने कषाय के उपशमन का उपदेश दिया है, परनिश्चित समता की सिद्धि के लिये

प्राणातिपात आदि पापों से विरत होने का उपदेश दिया है।^५

जैनाचार की पूर्व भूमिका ज्ञान है। ज्ञान शून्य आचार को यहाँ कोई महत्त्व प्राप्त नहीं है। अहिंसा की अनुपालना ज्ञानपूर्वक ही सम्भव है। 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' ज्ञान एवं क्रिया का समन्वय ही परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। मोक्ष की प्राप्ति न केवल ज्ञान से हो सकती है और न ही कोरे आचरण से। दोनों की युति अत्यन्त अपेक्षित है।^६

आचार के प्रकार

जैन परम्परा में आचार की अवधारणा पर व्यापक विचार किया गया है और उसका सम्बन्ध ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य के साथ भी स्थापित किया गया है। इसके पाँच प्रकार बताये गये हैं- १. ज्ञानाचार, २. दर्शनाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार और ५. वीर्याचार।^६

१. ज्ञानाचार :- ज्ञानाचार का तात्पर्य श्रुतज्ञान विषयक आचरण है। यद्यपि मति, श्रुत, आदि पाँच ज्ञान हैं, किन्तु व्यवहारात्मक ज्ञान केवल श्रुतज्ञान ही है। मति, अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञान ये चार ज्ञान असंव्यवहार्य हैं।^७ हमारा सारा व्यवहार श्रुतज्ञान के आधार पर ही चलता है। श्रुतज्ञान के अतिरिक्त शेष ज्ञान शब्दातीत हैं, अतः वे अपने स्वरूप का विश्लेषण करने में असमर्थ हैं। असमर्थता के कारण ही अनुयोगद्वार में इनको स्थाप्य कहा है। चूर्णिकार एवं टीकाकार के अनुसार स्थाप्य का अर्थ असंव्यवहार्य है।^८ जिसका दूसरों के लिए उपयोग हो सके, वह व्यवहार्य होता है। श्रुतज्ञान शब्दात्मक है, इसलिए वह संव्यवहार्य और लोकोपकारक है। श्रुतज्ञान का आदान-प्रदान हो सकता है, अतः ज्ञानाचार श्रुतज्ञान से ही सम्बन्धित है।^९ इसके आठ प्रकार हैं- काल, विनय, बहुमान, उपधन, अनिह्वन, व्यंजन, अर्थ और सूत्रार्थ।^{१०}

आचार का उल्लंघन अतिचार होता है और अतिचार का वर्जन आचार। जो अनुष्ठान, जिस विधि से करना होता है, उसको अन्यथा प्रकार से करना अथवा न करना, उस अनुष्ठान का अतिचार होता है। ज्ञान आदि पंचाचारों के भी अतिचार का वर्णन जैन साहित्य में उपलब्ध होता है।^{११} आवश्यक में ज्ञान के चौदह अतिचारों के उल्लेख मिलते हैं - १- व्यविद्ध, २- व्यत्याग्रेडित, ३- हीनाक्षर, ४- अत्यक्षर, ५- पदहीन, ६- विनयहीन, ७- घोषहीन, ८- योगहीन, ९- सुष्ठुदत्त, १०- दुष्ठु-प्रतीच्छित, ११- अकाल में स्वाध्याय करना, १२-स्वाध्यायकाल में स्वाध्याय न करना, १३- अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना और १४- स्वाध्याय की

स्थिति में स्वाध्याय न करना।^{१२}

२. दर्शनाचार

सम्यक्त्व विषयक आचरण को दर्शनाचार कहा जाता है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है - तत्त्वों के प्रतिश्रद्धा रखना।^{१३} यह दो प्रकार का होता है - १. नैश्चयिक और २. व्यावहारिक। नैश्चयिक सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध केवल आत्मा की आन्तरिक शुचि या सत्य की आस्था से होता है। व्यावहारिक सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध संघ, गण या सम्प्रदाय से भी होता है।^{१४} इसके आठ गुण हैं-निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।^{१५}

स्थैर्य, प्रभावना, भक्ति, जिनशासन में कौशल और तीर्थसेवा- ये पाँच सम्यक्त्व के भूषण कहे जाते हैं।^{१६} सम्यग्दर्शन के आठों अंग सत्य की आस्था के परम अंग हैं। कोई भी व्यक्ति शंका, संदेह या भय, कांक्षा, आसक्ति या वैचारिक अस्थिरता, विचिकित्सा, घृणा या निंदा, मूढदृष्टि अपनी नीति के विरोधी विचारों के प्रति सहमति से मुक्त हुए बिना सत्य की आराधना नहीं कर सकता और उसके प्रति आस्थावान् भी नहीं रह सकता। 'स्व-सम्मत' धर्म या साधर्मिकों का उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना किए बिना कोई व्यक्ति सत्य की आराधना करने में दूसरों का सहायक नहीं बन सकता।^{१७}

३. चारित्राचार

चारित्र का लक्षण है - सत् आचरण में प्रवृत्ति और असत् आचरण से निवृत्ति।^{१८} प्राणियों की हिंसा, झूठ बोलना, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग करना - पाँच प्रकार का चारित्राचार है। यह परिणाम के संयोग से, पाँच समिति और तीन गुप्तियों में अकषाय रूप प्रवृत्ति से आठ भेद वाला है।^{१९}

समिति का अर्थ है- सम्यक् प्रवर्तन। सम्यक् और असम्यक् का मापदण्ड अहिंसा है, जो प्रवृत्ति अहिंसा से संवलित है, वह समिति है।^{२०} समितियाँ पाँच हैं- ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग।^{२१} जिस प्रकार दृढ़ कवचधारी योद्धा बाणों की वर्षा होने पर भी नहीं बीधा जा सकता, उसी प्रकार समितियों का सम्यक् पालन करने वाला मुनि साधु जीवन के विविध कार्यों में प्रवर्तमान होता हुआ भी पापों में लिप्त नहीं होता।^{२२}

गुप्ति का अर्थ है - निवर्तन। यह तीन प्रकार^{२३} की है- मन, वचन और काय। जिस प्रकार क्षेत्र की रक्षा के लिए बाड़, नगर की रक्षा के लिए खाई या प्राकार होता है,

उसी प्रकार श्रामण्य की सुरक्षा के लिए, पाप के निरोध के लिए गुप्ति होती है।^{२४}

४. तपाचार

‘तवो णाम तावयति अट्टविहं कम्मंगंठि नासेति ति वुत्तं भवइ’^{२५} अर्थात् कर्म शरीर को तपाने वाला अनुष्ठान तथा कर्मक्षय का असाधारण हेतु तप कहलाता है। जो आठ प्रकार की कर्म ग्रन्थियों को तपाता है, उसका नाश करता है, वह तप है। जैन परम्परा के अनुसार तपस्या का अर्थ काय-क्लेश या उपवास ही नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि सब तपस्या के ही प्रकार हैं। काय-क्लेश और उपवास अकरणीय नहीं हैं और उनकी सबके लिए कोई समान मर्यादा भी नहीं है। अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार जो जितना कर सके, उसके लिए उतना ही विहित है।^{२६}

तपाचार के दो भेद हैं - बाह्य और आभ्यन्तर। अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्ति-परिसंख्यान, काय-क्लेश और छठा विविक्तशय्यासन, ये बाह्य तप के छः भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग- ये छः भेद अन्तरंग तप के हैं।^{२७}

५. वीर्याचार

ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप में अपनी शक्ति को नियोजित करना ही वीर्याचार है।^{२८} दशवैकालिक निर्युक्ति में कहा गया है कि अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की आराधना में पराक्रम करना वीर्याचार है।^{२९} वीर्याचार के छत्तीस प्रकार बताये गये हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप के सारे भेद मिलाने से छत्तीस होते हैं तथा वे ही वीर्याचार के प्रकार हैं। वीर्याचार का अर्थ है - जो शक्ति प्राप्त हुई है, उसका उपयोग करना। उसको कार्यकारी बनाना। जो शक्ति को प्राप्त करके भी आलस्य या प्रमाद के कारण उसका सही उपयोग नहीं करता, वह वीर्याचार के पालन से स्वलित हो जाता है। फलस्वरूप अपने मार्ग से च्युत हो जाने के कारण अपने इष्ट लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। जो शक्ति का संगोपन नहीं करता, वह वीर्याचार का पालन सम्यक् प्रकार से करता है। ध्यान, स्वाध्याय, तप आदि से संलग्न शक्ति साधक को उच्च आदर्श की ओर प्रस्थित करती है। समणी मंगलप्रज्ञा के अनुसार इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि शक्ति के अभाव में ज्ञान आदि का आसेवन नहीं हो सकता। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है, किन्तु अन्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है, तो ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम कार्यकारी नहीं बन सकता। उसका उपयोग तभी हो सकता है, जब

साथ में अन्तराय का भी क्षयोपशम हो।³⁰

जैनाचार का लक्ष्य

जैन-आचार का परम लक्ष्य अथवा श्रेष्ठ निर्वाण या मोक्ष की उपलब्धि ही माना गया है। भारतीय परम्परा में मोक्ष, निर्वाण, परमात्मा की प्राप्ति आदि जीवन के चरम लक्ष्य या परमश्रेय के ही पर्यायवाची हैं। पदार्थों का श्रद्धान् करने वाला यदि असंयत हो तो वह निर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं होता।³¹ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र-इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।³² जो आत्मा इन तीनों द्वारा समाहित होता हुआ (अर्थात् निजात्मा में एकाग्र होता हुआ) अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता है (अर्थात् करने व छोड़ने के विकल्पों से अतीत हो जाता है), वह आत्मा ही निश्चय नय से मोक्षमार्ग का पथिक कहा गया है।³³ जो आत्मा अपने से अपने को देखता है, जानता है, वह आचरण करता है, वही विवेकी दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणत जीव मोक्ष का कारण है।³⁴ व्यवहारनय से आचारों को ज्ञानना, ज्ञान, तत्त्वों में रुचि रखना, सम्यक्त्व और तपों का आचरण करना सम्यक् चारित्र है। परन्तु निश्चय से तो, जो आत्मा राग-द्वेष रहित होने के कारण स्वयं सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र स्वभाव स्वरूप है, वही निर्दोष मोक्षमार्ग है।³⁵ जबतक जीव को निज परम स्वभाव (पारिणामिक भाव) में श्रद्धान्, ज्ञान और आचरण नहीं होता तबतक वह अज्ञानी तथा मूढ़ रहता हुआ संसार महासागर में भ्रमण करता है।

आत्मा के समस्त कर्मबन्धनों से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं। इस अवस्था में आत्मा के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि स्वाभाविक गुण विकसित हो जाते हैं। आत्मा जीना, मरना, बुढ़ापा, रोग, शोक, दुःख, भय वगैरह से रहित हो जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में मोक्ष और निर्वाण शब्दों का दो भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। उनमें मोक्ष को कारण और निर्वाण को उसका कार्य बताया गया है।³⁶ इस संदर्भ में डॉ. सागरमल जैन का कथन है कि मोक्ष का अर्थ भाव-मोक्ष या रागद्वेष से मुक्ति है और द्रव्यमोक्ष का अर्थ निर्वाण या मरणोत्तर मुक्ति की प्राप्ति है।³⁷

इस प्रकार जैनाचार का मूल लक्ष्य मोक्ष ही है। सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार आचरण करना मोक्ष प्राप्ति का सोपान है। जैनाचार का निरूपण मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से ही किया गया है। जैनाचार का परिपालन व्यक्ति को मोक्ष तक पहुँचाता है, जो प्रत्येक जीव का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। मानव इस लक्ष्य को प्राप्त कर संसार में आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा अनन्तसुख का अनुभव

करता है।

संदर्भ :

१. जैन धर्म-दर्शन, डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ.४.
२. जैन आगम में दर्शन, समणी मंगलप्रज्ञा, पृ. २४७.
३. आयारो, ५.४०
४. समतदंसी ण करेइ पावं, वही, ३.२८, उद्धृत- जैन आगम में दर्शन, पृ. २७८
५. जैन आगम में दर्शन, पृ. २७८-२७९.
६. पंचविहे आयारे पण्णत्ते, तं जहा-णाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे।
ठाणं-५.१४७
७. अणुओगदाराइं, सूत्र २
८. (क.) अनुयोगद्वार चूर्णिं, पृ.२, 'ठप्पाइं' ति असंववहारियाइं ति वुत्तं भवइ।
(ख) अनुयोगद्वार मलधारीयावृत्ति, पत्र ३, 'ठप्पाइं' ति स्थाप्यानि-असंव्यवहार्यानि।
९. जैन आगम में दर्शन, पृ. २५१
१०. दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. ८८-काले विणये बहुमाणे उवहाणे तहा अनिणहवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभए अडुविहो नाणमायारो।।
११. आवश्यक, नवसुत्ताणि ४.८ ...वाइ (वच्चाभेलियं, हीणक्खरं)।
१२. जैन आगम में दर्शन, पृ. २५२ पर उद्धृत।
१३. तत्त्वार्थसूत्र - १.१.२.
१४. उत्तरज्झयणाणि-२.२८/३१ टिप्पण, पृ.१५९, उद्धृत- जैन आगम में दर्शन, पृ.२५३
१५. परमात्मप्रकाश टीका-७.१३
१६. योगशास्त्र, २/१६.
१७. जैन आगम में दर्शन, पृ. २५६.
१८. उत्तराध्ययन, वृहद्वृत्ति पत्र ५५६, वही, पृ. २५६ पर उद्धृत।
१९. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-१, पृ. २४०.
२०. जैन आगम में दर्शन, पृ. २५६
२१. पंचेव य समिईओ। उत्तरज्झयणाणि, २.४.१
२२. सरवासे वि पडंते जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पई, साधूकाएसु इरियंतो।।
मूलाराधना, शिवार्य, सोलापुर, १९९५, ६.१२०२
२३. तओ गुत्तीओ आहिया। उत्तरज्झयणाणि, २.४.१

२४. छेत्तस्स वदी णयरस्स, खाइया अहव होइ पायारो।
तहं पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स।। - मूलाराधना-६/११८९, उद्धृत-जैन
आगम में दर्शन, पृ. २५
२५. दशवैकालिक चूर्णि, जिनदासगणि महत्तर, पृ. १५.
२६. जैन आगम में दर्शन, समणी मंगलप्रज्ञा, पृ. २५८.
२७. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-१, पृ. २४०.
२८. वीर्याचारस्तु ज्ञानादिष्वेव शक्तेगोपनं तदनतिक्रमश्चेति। - स्थानांगवृत्ति, पृ. ६४.
२९. अणिगूहितबल - विरिओ परक्कमति जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजइ य जहाथामं णायव्वो वीरियायारो।। - दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ९१.
३०. जैन आगम में दर्शन, पृ. २६०
३१. वही, पृ. २६०.
३२. प्रवचनसार - ३.३७
३३. तत्त्वार्थसूत्र- १.१
३४. पंचास्तिकाय - १६१.
३५. परमात्मप्रकाश-२.१३.
३६. योगसार, अमितगति-१.४.४१-४२.
३७. उत्तराध्ययनसूत्र, २८.३०.

CONCEPT OF SANTHĀRĀ (SAMĀDHIMARĀNA) IN JAINISM

Dr. Samani Shashiprajna

Santhārā is a Jaina technical word which means the voluntary, step by step termination of body with full awareness, wisdom and insight. The 24th Tīrthankara Mahāvīra was great religious preacher who not only paved the path of leading an artistic life by implementing the great and small vows but also showed us the path of ending the life journey very artistically through the process of *Santhārā*. The basic concept underlying the vow of *Santhārā* is that a man who is the master of his own destiny should resolve himself/herself to follow the best method of leaving the body. *Santhārā* is considered as the king of all the vows and it is the highest spiritual vow rather than the ritual. On 10.8.2015 the Rajasthan High Court banned *Santhārā* and declared that it is illegal like suicide, *Satī-prathā* and euthanasia. The research paper is an attempt to do a comparative study of *Santhārā* and Suicide. The paper is divided into three sections. The first section deals with the introduction of *Santhārā*, its procedure and how it is a pure spiritual practice of dispassionate state of mind and soul, is discussed in brief. The second section deals with the concept of Suicide and *Satī-prathā* and Euthanasia in brief and the third section deals with the comparative study between the Jaina concept of *Santhārā* and the Suicide in general parlance.

Section I

Meaning and Definition of Samlekhanā

The term *Samlekhanā* is derived from the two words- *Sam* and *lekhanā*. *Sam* means praiseworthy, *lekhanā* means emasculation of the body and passions, so *Samlekhanā* means a praiseworthy process of emasculating the body and passions, appears to have been at the root of the meaning of *Santhārā*.¹ *Santhārā* (Peaceful death through fasting) is facing death (by an ascetic or a householder) voluntarily when he/she is nearing his/ her end and when normal life according

to religion seems to be impossible due to old age, incurable disease, severe famine etc. *Santhārā* is nothing but the subjugation of all passions and abandonment of all worldly attachments, by observance of austerities and by gradual withdrawal of food and water, and by simultaneous meditation on the real nature of the self until the soul parts from the body.² The basic concept underlying this vow of *Santhārā* is that man who is the master of his own destiny should face death in such a way as to prevent the influx of new *karmas* even at the last moment of his life and at the same time liberate the soul from the bondage of new *karmas* that may be clinging to it from beginningless past.

Ancient Evidences of Practice of Santhārā by Ascetics and Householders

It is a well experienced fact that the last thought in our mind before falling asleep will be the first thought when we awaken, so also will the last impression in our mind come to us in the next life as the first impression. There are so many āgamic and ancient evidences of practice of *Santhārā* undertaken by ascetics and householders in this regard as asked by the High Court Authority. Jainism is known for many a unique spiritual practice and accomplishment since it is propounded by the first Lord Prophet Rṣabhadeva, centuries ago at the beginning of time cycle. The antiquity of Jaina religion and *Santhārā* is unquestionably proven by its mention in the ancient scriptures. It is equally modern and rational in its philosophy and approach. It is modern in the sense that spiritual aspirants, in the pursuit of immortality, undertake this practice. It is rational in the sense that the very purpose of human existence in its spiritual evolution to perfection and to overcome all impediments that hinder its progress towards this noble goal. Here it is relevant to quote the reference of the book entitled '*Sallekhanā is not Suicide*' by Justice T.K.Tukol. In this book, his studies on the relevant inscriptions on *Sanlekhana* undertaken by Viśākha Muni,³ by Candragupta Maurya⁴ so on and so forth. Numerous ascetics both monks and nuns and lay

followers who adopted the vow of *Samlekhanā* is mentioned by him in his book and in the same inscriptions comprising of 8 volumes.⁵

Tīrthānkara Kunthunātha, Aranātha, Malli Prabhu, Munisuvrata, Neminātha, Pārśva and Ariṣṭanemi undertook the vow of *Santhārā* and realized *nirvāṇa* after a month long period of *Santhārā*.⁶ The *Antakṛddasā* canonical text highlights the several instances of monks and nuns who observed *Santhārā* and attained the realm of heaven and after three to nine births, they achieved the ultimate goal of liberation. Among those instances, few persons are Gajasukumāla, Atimuktaka Kumāra, Mudgarapāni, eight queens of Lord Kṛṣṇa etc.⁷ The canonical text, *Uvāsagadasāo* cites the life history of ten house holders who culminated their life by undertaking *Santhārā*.⁸ In *Uttarādhyayanasūtra*, also we find the essence of *Santhārā* in the fifth chapter i.e. *Ārāhiyāduveloye* i.e., 'the one who undertakes *Santhārā* enjoys life here and hereafter in the next birth also.'⁹ Along with that then prevailing *Santhārā* practice can be seen in many manuscripts of Jaina Vishva Bharati Institute library. Seventeen volumes of *Śāsana Samudra* book of Muni Navaratanmalji highlights the brief life sketch of *Santhārā* observed by monks and nuns of Terāpantha Sect from the past near about 200 years. Thus the canonical evidences and the stories highlighting the *Santhārā* being undertaken is the living proof of traditional ancient religious practice of the vow of *Santhārā* in vogue.

Canonical Reasons for undertaking *Santhārā*

According to Samantabhadra, *Santhārā* is a vow to be adopted for seeking liberation of soul from the body as a religious duty during a calamity, severe famine, old age or illness from which there is no escape or against which there is no remedy.¹⁰ Akalaṅka in his *Tattvārtha-rājavārtika*, suggests the conditions that are required to undertake *Santhārā*, is old age, disease, deterioration of power of sense organs, loss of physical strength and six essential duties (Ṣaḍvāśyaka) seems to be in-observable, *Santhārā* can be undertaken.¹¹ This signifies that the process of *Santhārā* is to be

adopted either in special circumstances when the religious observances are being endangered on account of unavoidable bodily infirmities and the like, or on the occasion when the time of natural death has been known in all probability.

No doubt, the body which is the medium of the upliftment of the soul is to be properly nourished and cared for and the diseases are to be seriously met with, without any treat. But if the body refused to respond to our earnest endeavours, we should not falter to forsake it like a villain in the interest of saving the peace of mind.¹² Thus if one is encountered with the causes of the termination of duration of the present life, one should resort to the performance of the process of *Santhārā* which is not only other than the spiritual welcome to death, but a way of meeting the challenge of death undauntedly. This happy embracement of death has been calculated to carry the spiritual dispositions to the next birth. Now, it is essential to explain various types of *Samādhimaraṇa*.

Types of Samādhimaraṇa in Jainism

Santhārā is of two kinds; internal and external. Internal *Santhārā* consists in emaciating the passions while the external one consists in emaciating the body.¹³ The eighth chapter of *Ācārāṅga-sūtra* has explained three forms of death. They are *bhaktapratyākhyāna-maraṇa*, *īṅgini-maraṇa* and *pāḍopagamana-maraṇa*.¹⁴ The last two are distinguished by restriction of the movement of the person and the motion of his limbs.

1. Bhaktapratyākhyāna-maraṇa

The first one is prescribed for a well-controlled and instructed monk. We should desist from doing, causing or allowing to be done any movement of the body, speech and mind. This type of *maraṇa* permits attendance and service of both kinds, i.e. by oneself and by others.

2. Iṅgini-maraṇa

The second one which is still more difficult requires the monk not to stir from ones place and check all motions of the body. It admits

of one's attending on one's self but forbids receiving help or assistance from others.

3. Pādopagamana-maraṇa

The third one is still more difficult. In this sort of *maraṇa*, the person neither attends his own body nor insists others to look after him. The monk should examine the ground most carefully and lie down wholly unmindful of his body, putting up with all kinds of mortification of the flesh. He should seek the enlightenment in the soul without any delusions of life. A monk or a pious layman should reach the end of his life without any attraction to external objects after having patiently chosen any one of the three methods of death for attainment of liberation.

Ācārya Kundakunda has referred to this vow of *Santhārā* and stated that death is of three kinds: *Bālamaraṇa*, *Bālapaṇḍitamaraṇa* and *Paṇḍitamaraṇa*.¹⁵ *Bālamaraṇa* is the death of an individual who has right faith but does not possess full self-control. The second is a kind of death which is faced by a householder who has reached the fifth stage of his spiritual progress and who is unable to abstain from the *himsā*/violence of one-sensed being and is still indecisive in the matter of self-restraint. *Paṇḍitamaraṇa* is the death of an ascetic who has attained pure knowledge about his own self. The death of *Tīrthaṅkaras* or *Gaṇadhara*s or of monks is of this kind.

The procedure of Santhārā

Santhārā is to be performed at the last phase of a regular religious career. Both the levels of persons householders and houseless monks/nuns may perform this vow according to one's capacity. A householder is advised to first perform eleven *pratimās* (special kind of advance spiritual practices), in which he practically leads the life like an ascetic. At the end of this practice, he is to give up food and drink and wait for death. The procedure of abstinence from food for fasting unto death is explained in detail in *Ācārāṅga-sūtra*.¹⁶ 'Having abstained from food, he should lay peacefully, and untouched by

hardships like hunger, oppressed by the favourable and unfavourable man made troubles, he should not transgress his undertaking.’

A Jaina monk is required to prepare himself to pursue a course of gradual fasting which may last for years together. In *Pravacana-sāroddhāra* there is a specific methodology of observing *Santhārā* on the basis of difference of time limitation. Minimum time limit of *Santhārā* is six months. The medium time limit of it is twelve months and the maximum time limit of it is twelve years which ends with death.¹⁷

It is very often seen that the self has more attachment with one’s own body; he cares for it with all hooks and crooks. But during *Santhārā* period, the practitioner realizes that body and passions are the main causes of inflow of *karmas*. So prior to the adoption of the vow, one is required to give up all feelings of love, hatred companionship and worldly attachments with a pure and calm mind. He should obtain forgiveness of one’s kinsmen and of others with all humanity at the same time forgiving them sincerely. Only when he has confessed without any concealment all his transgressions,¹⁸ *kr̥ta*, *kār̥ita* or *anumata*, he is fit to assume the *mahāvratas* in their entirety for as long as his life lasts.

The *Dravya Santhāra* last for twelve years. According to the *Uttarādhyayana-sūtra* (36.25. 255), the order in which food can be curtailed is as follows:

The first four years are done by either *vikṛtiparityāga* (i.e. abandonment of rich foods) or *ācāmla* (i.e. eating only a single item of food). The next four years - special penance such as fasting for a day, for two days, for three days etc. and taking appropriate breakfast. During the 9th and 10th year fasting on alternate days is practiced and *ācāmla* in breakfast. The first half of the 11th year fasting for one day and two days is practiced. Then in the second half of the 11th year severe penance of fasting is increased to three or more days. During the whole of the 11th year, the *ācāmla* in breakfast is practiced. In the first six months reduced diet on the day of *ācāmla*

and a full diet on such occasions is permissible during the next six months of the 11th year.

During the 12th year, *ācāmla* coupled with another penance, i.e. either continuous *ācāmla* with another penance alternately. At the end of the 12th year fasting for a fortnight or a whole month or *bhaktapratyākhyāna* etc. is taken.

In the *Ratnakaraṇḍa-śrāvakācāra*, we get the order of curtailment in diet as follows. First, cereals are given up, one practices to take only mild. Then, mild is also given up and only buttermilk or hot water is taken. Then, according to one's capacity, gradually fasting is taken up and water is also given up.¹⁹ According to the *Nisīthacūrṇi* taking food is reduced in such a way that complete abandonment of food and death coincide. During the last four months of this year, the mouth is kept oiled so that the speech organs do not cease to function and there is no difficulty in reciting the *namaskāra mantra* etc.²⁰ These are the different methods for undertaking *Santhārā* according to one's capacity.

Spiritual Activities undertaken during the Santhārā

A Jaina resolving to undergo *Santhārā* knows it well that he has eaten a lot of food to sustain his body during this life and voluntarily gives up the food. It is very essential for a man who drives a car to have knowledge of giving break to the car. If he learns merely driving but never learns to give a break, this driving will be very harmful for the driver if he meets with a severe accident, likewise the person having the knowledge of how to lead an artistic life must have the knowledge of giving up the body artistically, happily through the gradual process of *Santhārā*.

The mental attitude of the person who has adopted the vow of *Santhārā* should be pure in thoughts and must have severed all connections, having forgiven everybody and asked everybody's pardon in sweet words. A person with Right-faith and Right-knowledge would always believe that being born as a human being is itself a rare chance for

annihilation of all *karmas* and that increased attachments to relatives and friends, business and occupations, and accumulation of property of any kind would only entangle the soul with new *karmas* of different kinds of varying intensity. These ties are all due to the *karmas*. Every kind of relationship and attachment perishes with the body. Such thought will create a sense of detachment and free the mind from passions of every kind like love, anger, pride, deceit and greed. The person concerned should make a frank and full confession of his actions and thoughts before his preceptor. He should discuss with his spiritual *guru* whatever sins he might have committed by himself and by others consent till that date without hesitation or sense of secrecy. One should be aware while undergoing *Santhārā* that he/she should remain free from the five transgressions.

Five Aticāras (Transgressions) of Saṁlekhanā (Santhārā)

1. *Ihalokākāṅkṣā*: undertaken with the desire or motive to acquire wealth, family etc., i.e. pleasures of this world.
2. *Paralokākāṅkṣā*: here the motive is to acquire pleasures of heaven etc. in the next birth.
3. *Jīvitākāṅkṣā*: undertaken with the desire for life.
4. *Maraṇākāṅkṣā*: To desire instant death because of unbearable pain or miseries.
5. *Kāmahogāśamsā*: undertaken for acquiring desired but unfulfilled sexual and other-worldly pleasures.

Aticāra or transgression means committing any blunder or mistake due to carelessness or ignorance even after observing reasonable vigilance during *Santhārā*. A *sādhaka* should try to protect himself from these blemishes otherwise may again bind new more *karmas*.

Section II

Concept of the Suicide

Human nature being the same everywhere, the causes of suicide have been universally identical all over the world. Suicide is killing oneself by means employed by oneself. The corresponding word in

Sanskrit is *ātmaghāta* or *ātmahatyā* (self-destruction). It is normally a misfortune of one's own making. A victim of suicide is either a victim of his/her mental weaknesses or of external circumstances, which he is not able to circumvent. In modern times mental and ethical strength has been deteriorating fast, whether it be an individual or in any social group. Present scenario has brought with it a large number of psychological problems which an individual without courage can hardly solve.

Sociologists have put forward numerous explanations in their suicide notes, abnormal grief accruing from the loss of the loved one, mutual jealousy, mental difficulties, infidelity, family discord, anger, pride, remorse and shame are all symptoms of difficulty in personal adjustment. The forces of fear and anxiety, feeling of inferiority, hatred, aggressiveness, revenge, guilt, and other mental disorders are such that they prevent people from attaining emotional maturity. This emotional immaturity has been the most powerful factor compelling a man to choose suicide as the only solution to seemingly insurmountable difficulties.²¹

The main psychological and physical features of suicide are: (1) the victim is under an emotional stress; (2) he or she is overpowered with a feeling of disgrace, fear, disgust or hatred at the time when suicide is resorted to; (3) the main intention of committing suicide is to escape from the consequences of certain acts or events; disgrace, agony, punishment, social stigma or tyranny of treatment etc. (4) the kind is far away from religious or spiritual considerations; (5) the means employed to bring about the death are weapons of offence or death; (6) the death is sudden in most cases unless the victim is rescued earlier; (7) the act is committed in secrecy (8) it causes misery or bereavement to the kith and kin.

In *Samavāyāṅga-sūtra* and *Bhagavatī-ārādhana*²² text seventeen types of deaths are discussed in brief. Here we find the references of deaths occurring due to common methods adopted for committing suicide like jumping from heights, jumping into wells, having poison

etc. In *Puruṣāratha-siddhyupāya* text of Amṛtacandra has given reasons for *ātmahatyā* like a person out of passions, calls death by stopping one's breath or by hanging oneself, by falling in water, poisoning by use of drugs, burning oneself with the use of fuel and by using weapons etc.²³ and on the other hand three types of pious and peaceful ways of attaining death is adopted in the *Santhārā*.

Satī-prathā

The practice of Satī, that is, self-immolation by the wife on the funeral pyre of the husband in the ancient history. The *Mahābhārata*, the *Rāmāyaṇa*, and the *Viṣṇu Purāṇa* contain examples of such immolation. Dr. Thakur quotes from *Mitākṣarā* on Yājñavalkya (1.86) to show that the object behind the practice was religious merit. She who follows her husband in death dwells in Heaven for many years as there are hairs on the human body, viz. three and half-acrores of years. According to Harita: 'that a women who follows her husband in death purifies three families, viz. of her mother, of her father, of her husband.' But there are old commentators who are opposed to this custom.²⁴ The opposition seems to have been voiced from time to time to such practices on the ground that self-destruction was most horrible.

Another practice which was glorified in India is the practice of *Jauhara*. Whenever the Rājapūtas lost in a battle or their city was captured by their enemies, every female in a family or the whole tribe as necessary, had recourse to immolation by burning themselves in fire in order to escape from the threatened dishonour. It is difficult to assess at this distance of time whether all such deaths were voluntary or were forced on unwilling women by fear of social stigma or fear of religious punishment. We have records of cases where women running back from the pyres were driven back or subjected to tyranny of horrible character.²⁵ The *Santhārā* is no different and it is also a process to commit suicide in the name of religion as in the case of Satī. There is absolutely no need to protect the practice of *Santhārā* by the State. This is the statement made by the Rajasthan state government.

This is not the case in Jaina concept of *Santhārā*. In *Satī-prathā*, the women has attachment towards his husband and she cannot imagine the life without him. In such a condition, she voluntarily or out of respect for their cultural tradition, jumps on to the funeral pyre of the husband and ends her life. On the other hand, a person abide by the vow of *Santhārā*, dispassionately gives up body for attaining the higher purpose, i.e. emancipation from the cycle of birth and death whereas the women dying out of emotional attachment wanders in the world. Moreover, in *Satī-prathā*, only women are indulged, no men are bothered to ever follow such type of social culture. But in *Santhārā*, both men and women voluntarily participate in this spiritual vow for shedding off one's *karmas* and thereby purifying the self. It seems that due to cognition of one-sided truth, the court has arrived at such a judgment, so it needs further verification as both the practices are radically different in nature and the purpose behind the actual undertaking such action .

Concept of Euthanasia

This modern concept is a debatable issue, as few consider it as a kind of murder, few consider it as physician assisted suicide, and for few, it is a merciful method of death. The problem of euthanasia is related with both the animals and human beings. Here point of consideration is for human euthanasia.

The euthanasia is of two types; active and passive. The active euthanasia entails the use of lethal substances or forces to kill a person. The passive euthanasia entails withholding of medical treatment for continuance of life, withholding of antibiotics where without giving it, a patient is likely to die, or removing the heart lung machine, from a patient in coma. It entails the withholding of common treatments (such as antibiotics, pain relief medications, morphine or surgery) knowing that it may also result in death (principle of double effect). Both the methods are illegal without legislature, provided certain conditions and safeguards are maintained. Passive euthanasia is the most accepted form and it is a common practice in most hospitals.

Generally, the euthanasia may be voluntary and non-voluntary. The voluntary euthanasia is, where the consent is taken from the patient, whereas non-voluntary euthanasia is conducted without an individual's specifically given acquiescence and relatives give their consent to take lifesaving treatment and in the opinion of some this equates to murder. It is not a crime, but whether not taking food consciously and voluntarily with the aim of ending one's life is a crime under section 309 IPC is a question, which need not be decided here. After considering the question of non-voluntary, passive euthanasia, the Supreme Court laid down certain guidelines for the procedure for permitting death, under certain conditions. The Supreme Court laid down a procedure detailing the conditions for such action till the Act is enacted by the Parliament. The procedure provides for a decision to be taken by the patients to discontinue life support or the spouse or other close relatives and in their absence by a person next or by the doctors attending the patient. The Committee of three reputed doctors after consulting such medical authorities/medical practitioners, preferably comprising of a Neurologist, Psychiatrist and Physician passive euthanasia can be permitted. Voluntary euthanasia has often been rejected as a violation of the sanctity of human life. Specifically, some Christians argue that human life ultimately belongs to God, so that humans should not be the one to make the choice to end life. Christians view as quoted in *Bible*, 'The god giveth and the god taketh'; no one else has a right to intervene in the divine process of life and death. The man cannot give life, so he must not take life, voluntarily or otherwise. Orthodox Judaism takes basically the same approach. Even Jains would never allow this kind of act of euthanasia, as Jaina aphorisms of canons claim that life is dear to everyone, no one wants to die.²⁶ In such a situation, euthanasia is an immoral act, inhuman behaviour as per Jaina view. It is also illegal in most of the countries. Jainism, as it is basically a non-violent religion, is in opposition with this kind of mercy killing or death through euthanasia.

Section III

Santhārā is not a Suicide:

Those who have not understood the correct meaning of the *Santhārā* misinterpret it as suicide. But in depth study proves that both are entirely different. In the *Ācārāṅgasūtra*, we find an aphorism, *kasāye payaṇue kiccā appāhāro titikkhāye*.²⁷ In this *sūtra*, the thinning of the passion and the reduction of the diet have been propounded as a twofold austerity. The mere reduction of diet without thinning the passions cannot achieve the end. Therefore the internal austerity of thinning the passions and the external austerity of reducing the diet, both are accepted as penance by the followers of the Jina. So such an auspicious way of achieving death can never be compared with the irreligious act of suicide.

A Jaina resolving to undergo *Santhārā* knows it well that he has eaten a lot of food to sustain his body during his life. Now, when the body does not cooperate to help in living meaningfully any more, the person should resolve for *Santhārā*. As per the Jain religion, the body is called a boat, the soul is a boats man, the worldly existence is an ocean which the great sages cross over through the pious practice of *Santhārā*.²⁸ But in suicide, the body is healthy, all the organs of the body are well functional and some unfavorable situation which he/she feels to be incapable of facing it courageously, ends one's life merely to elope from the life situations.

Santhārā is undertaken with positive thinking and perfect understanding of the purpose of human life. During the period of *Santhārā*, all the relatives, if available, monk or nun try to sing inspirational songs and motivate the observer to stay in equanimity and embrace the death happily. While suicide is the result of negative thinking and deluded world view towards the purpose of human life.

In many cases of *Santhārā*, many mysterious incidents occur. The observer achieves extra sensory knowledge and foretells that I am

going to take birth in a particular realm. Moreover a shower of incense of saffron (keśaravarṣā) is experienced in many cases as the soul becomes pure by confessing one's sins frankly and honestly and repents for all the misdeeds performed in the present life. Whereas in suicide due to absence of such purity, neither any mysticism takes place nor confession and repentance of one's deeds takes place.

Santhārā is a Jaina technical word which means the voluntary, step by step termination of body with full awareness, wisdom and insight, whereas suicide is committed in laxity, and without insight. Any act committed in laxity is violence, so suicide is violence to self as per *Ācārāṅgasūtra*.

The agent of *Santhārā* does not adopt any external weapons/aids for self-killing, whereas suicide is killing oneself by means employed by oneself. The common methods adopted for committing suicide are jumping from heights, jumping in wells or deep water, jumping or lying down before a running train, shooting, hanging, poisoning by use insecticides or other drugs, burning oneself with the use of kerosene or petrol or the use of electrical wires (live) etc. out of emotional immaturity and in psychological depression.

It is very clear that the vow of *Santhārā* is a spiritual practice and it is done patiently and by minimizing the attachment and aversion towards all the nearest and dearest family members and towards one's possession. Whereas in suicide, both the reasons are available and it is done in impatience.

Man of *Santhārā* has an eye on his upward journey (liberation) and does not think of the external objects i.e. worldly pleasures. He should protect his body for annihilating the past *karmas*.²⁹ But it is not the case with the suicide, as it is done when the person is unable to enjoy the worldly pleasures and such an act leads to the bondage of new *karmas*.

Santhārā is undertaken voluntarily without any sort of pressure, out of one's own will and with full awareness for the purpose of having

religious holy death. It is not suicide because it is undertaken with awareness. An injury to life motivated by passions is violence.³⁰ To commit suicide is to kill oneself out of anger, agony, malice or frustration, whereas fasting to death purges the soul of its passions and perversities by conquering the fear of death.

Santhārā is adopted by monks and nuns after the due permission of *guru* before the huge audience with the open mind of forgiveness and compassion towards all. Lay persons have to acquire permission from their *guru* and as well as from relatives. The *ācārya* in a Jain sect is the responsible authority who decides when and under which situations one should be allowed for such a great vow whereas suicide is committed without such permission, consent and is done with lot of passion, emotional excitements and in isolation.

There is a systematic methodology of *Santhārā* in canonical literature which takes the life span of twelve years of gradual limitation of food, water etc. and minimization of passions. It is done with the due permission of the parents or husband /wife and from spiritual mentor, in the presence of huge public. While suicide is committed in secrecy and by adoption of questionable devices at once.

The seven conditions under which a person can adopt *Santhārā* are- 1. incurable disease, 2. old age, 3. if human, infernal, animals cause *uṇṇasarga* (hardships), 4. when a favourable situation are present before the monk for deviation from conduct, 5. due to calamity if pure means of acquiring alms becomes impossible, 6. in furious forest if monks seeks no secured place, 7. the visual power, hearing power decreases and legs do not help in walking, *Santhārā* can be adopted.³¹ Whereas suicide is committed instantly due to the disappointment and frustration in personal life, emotional or sentimental breakdown in married life or love affairs, unexpected and unbearable economic loss in trade or business, sudden and heart breaking grief brought on by the death of the nearest and dearest, appearance of some disease which is incurable or socially reprehensible, sudden development of melancholia or depression

either due to heredity or other hidden causes, public disgrace or dishonour of one's self or the family, an unexpected shock due to failure to realize an ambition and many other unusual factors may be regarded, either individually or cumulatively, are causes driving an individual to commit suicide.

Practice of *Santhārā* is based on the Double-effect theory. The death is exactly an incidental product that accompanies the spiritual purity through the elimination of *karmas* exactly as chaff is an incidental growth accompanying the corn which is the essential product of the seed. But suicide is not based on such theory but it is a sort of pessimistic thought process leading towards the painful death. This dreadful act of human being is condemned by each and every religions and not only by Jains.

In *Īśāvāsyaopaniṣad*, it is clearly written that one who commits suicide goes to the dreadful infernal realm.³² It is said that the person who commits suicide out of anger, fear, pride, *kleśa* have to take the next birth in infernal realm for 60,000 years and have to repent for the misdeed committed by oneself.³³ Even in the Jaina canonical literature of *Uttarādhyayanasūtra*, it is said that the person who commits suicide spoils this life and the next life whereas *Santhārā* is nothing but a way of facing death artistically, it is considered that if a monk leaves his body in *Samādhimaraṇa*, he surely attains the heaven.

It is said in *Samaṇa Suttam* text that a wise person who is free from anxiety dies a peaceful death once; by such a death, he immediately puts an end to an infinite number of deaths.³⁴ Suicide is the cause of worldly wanderings whereas *Samādhimaraṇa* is the cause of eliminating *karmas*, and thereby limiting the circle of life and death.

Justice T. K. Tukol says, in his book, '*Santhārā is not Suicide*' that Jaina philosophy is a philosophy of non-violence. In the case of suicide, a death with passion is nothing but violence whereas Jaina *Santhārā* is observed thoughtfully in an impassionate state without craving for materialistic pleasures and takes the oath of abstaining from food, water entirely willingly and even resolves not to harm

oneself or any other member of the society at large. So it is incomparable with the suicide which is committed in a passionate and abnormal state.

In the text, *The History of Suicide in India*, p. 107 Upendranath Thakur writes that why Jaina *saṁlekhanā* is considered as suicide is that very crude methods have been employed in it, like complete giving up of all kinds of food and water. So it should be clearly kept in mind, that since the milk of a cow and milk taken out of the particular plant 'dhatūrā/cactus' seems equal, but one is nectar i.e. nourishes the body, the other is poison which destroys the body i.e. takes away the life. Likewise there is a great difference between suicide and *saṁlekhanā*.

Amṛtacandra Sūri has defined suicide with such precision that his definition can stand the scrutiny for any modern Jurist: He, who actuated by passions, puts an end to his life by stopping breath or by water, fire, poison or weapons is certainly guilty of suicide. In *Santhārā*, all desires and passions are subjugated and mind remains in bliss and peace.³⁵

Importance of Santhārā

It is a religious fast unto death on the pretext that when all purpose of life has been served, or when the body is unable to serve any purpose of life. *Mṛtyu-Mahotsava*, a book from unknown author having Hindi commentary by Sada Sukha Das highlights the essence of *Santhārā* with the following *sūtra*:

*taptasya tapaścāpi pālitasya vratasya ca/
paṭhitasya śrutasyāpi phalaṁmṛtyuṁ samādhinā//*³⁶

It means all religious observances, fastings and austerities would be unavailing, if at the last moment of life, at the time of approaching death, if one does not undertake *Santhārā*. It is not only the spiritual welcome to death, but also a way of meeting the challenge of death undauntedly. This happy embracement of death has been calculated to carry the spiritual dispositions to the next birth. Such a kind of

peaceful spiritual death cannot be regarded as the suicide at any cost because here we have a logic and spiritual reason behind the acceptance of *Santhārā*. It is very often seen that the self has more attachment with one's own body; he cares for it with all hooks and crooks. But during *Santhārā* period, the practitioner realizes that body and passions are the main causes of inflow of *karmas*. So prior to the acceptance of the vow, one is required to give up all feelings of hatred, companionship and worldly attachments with a pure and calm mind. He/she should obtain permission from the *guru* and householders from their nearest relatives and ask forgiveness from one's kinsmen and from others with all humanity at the same time forgiving them sincerely. Death by *Santhārā* according to scriptural rules is the victory of the soul over *karmas* and other infirmities of the mind and body.

This systematic process of *Samādhimaraṇa* influenced even Vinoba Bhave to such an extent that once he commented, I wish to die according to the Jaina system of peaceful death. So *Santhārā* is a Jaina religious injunction essential for shedding off *karmas* and purification of soul. So such an auspicious death can never be compared with suicide. Sri Ravi Shankar comments that those people who are not familiar to Jaina vows, views, various practices and rituals claim that *Santhārā* is suicide. A man of less intellect only commits suicide to get rid of one's physical diseases, mental disorders and other unfavourable situation that is why, it is rightly said that "Suicide is the temporary solution to the permanent problem." While a man of intellect observes *Santhārā* to get rid of *bhavavyādhi* i.e. wandering disease which is material cause of all the problems. There is thus difference between suicide and *Santhārā* as regards intention, situation, means adopted and the consequences of death.

Conclusion

Thus the basic concept of undertaking the vow of *Santhārā* as *Samādhimaraṇa* is that a man who is the master of his own destiny

should resolve himself to follow the best method of leaving the body happily, peacefully and artistically. It is a well-planned spiritual death inspired by the highest ideal of self-realization to ward off further entanglement in the bondage of *karmas*. Hundreds of instances of *Santhārā* have been recorded in the inscriptions found in different parts of the State of Karnataka and collected in twelve volumes of *Ephigraphia Carnatica* published by the state government and many scriptural and documental evidences are authentic to prove logically the age old ancient tradition of *Santhārā* being practiced.

It is emphatically denied that *Santhārā* is a voluntary suicide. *Samlektanā* (*Santhārā*) is arbitrarily equated with the offence of suicide or *Satī* or euthanasia by IPC. It is submitted that a voluntary fast unto death is an act of self-destruction, which amounts to "suicide", which is a criminal offence and is punishable under section 309 by Rajasthan Court. But there is a radical difference between the *Santhārā* and suicide, *Satī-prathā* and Euthanasia, so it cannot be equated in any way with the above mentioned concepts philosophically, conceptually and conventionally.

Moreover, the tradition of *Satī-prathā* is radically different from *Santhārā* from all angles of human understanding. The emerging concept of euthanasia needs to be further studied as few Western and Eastern scholars both relate it with the passive euthanasia but it is not so because the intention behind the vow of *Santhārā*, the situation, means adopted and the consequences of death everything must be taken into the consideration before arriving at final judgment. So the need of the hour is to reinvestigate the entire procedure of pious death of *Santhārā* comprehensively. Moreover the case history study of the persons who have undergone such a practice of pure meditation and self-introspection with Supreme forgiveness towards one and all must be taken into consideration for better clarification of the fact. *Samlektanā* is a retreat to peace in true sense, to be yourself entirely free from all distractions for pure contemplation and introspection. It can be finally concluded that it is a noblest way to die in the pursuit of immortality.

Bibliography

Original Texts

Ācārāṅga Bhāṣya, Ed. Acharya Mahaprajna. With text, Sanskrit commentary, Hindi translation, Comparative notes, Topic in text and commentary and Various appendices. Ladnun : Jain Vishva Bharati Institute. 1994.

Antakṛtadaśāṅga Sūtra, Ed., Madhukar Muni, Agam Prakashan Samiti, Beawar, 2011.

Bhagvatī-sūtra, Ed. Mishrimalji Maharaj, Agam Prakashan Samiti. Beawar, 1991.

Bhagavati-ārādhana, Ācārya Śivārya, Ed. Kailash Chandra Siddhanta Shastri, Jaina Samskriti Sanrakshak Sangha, Sholapur, 1978.

Daśvaikālika Sūtra, Ed. Mishrimalji Maharaj, Agam Prakashana Samiti. Beawar, 1991.

Sāgara Dharmāmṛta of Āśādhara, Ed. Kailash Chandra Shastri. Delhi: Bharatiya Jnanapitha, Prakashana, 1978.

Epigraphia Carnatica, Vol. II, Inscription.1.

Jacobi, Hermann M, *Sacred Books of the East*. Ed. F. Max Müller, *Jaina Sūtras*. Delhi : M.L.B.D. Part-II, vol.-45. 1994. *Mūlācāra* of Vattakera, Ed. Kailash Chandra Shastri, New Delhi: Bharatiya Jnanapitha, 2000.

Puruṣārtha-siddhyupāya of Amṛtacandra, Ed. Pt. Ajita Prasad, Lucknow : The Central Jaina Publishing House,1933.

Ratnakaraṇḍa-śrāvākācāra of Samantabhadra, Ed. Manik Chanda, Bombay: Digambara Jaina Granthamala, 1982.

Sarvārthasiddhi of Pūjyapāda, Ed. & trans. by Phoolchand Siddhant Shastri, Murtidevi Jaina Granthamala, Sanskrit Series-13, Delhi : Bharatiya Jnanapitha, 13th edn. 2005.

Samāṇa Suttam, Ed. Sagarmal Jain, Trans. T. K. Tukol and K. K. Dixit, Bhagavan Mahavira Memorial Samiti, Bhagavan Mahavira Kendra, Delhi, 1st Edn. 1993, II Edn.1999.

Tattvārtha Sūtra of Umāsvāti, Ed. Nathmal Tatia, "That Which Is" English Translation with the Combined Commentaries of Umāsvāti, Pūjyapāda and Siddhasena Gaṇi, America : Collins Publications, 1994.

Uttarādhyayana Sūtra, Ed. Muni Mishrimalji Maharaj, Trans. Muni Rajendra, Agam Prakashan Samiti, Beawar, 1991.

Uttarajjhayānāni. Ed. Yuvacharya Mahaprajna with Prakrit Text, Sanskrit rendering, Hindi translation, Comparative notes and Various appendices, Ladnun : Jain Vishva Bharati Institute. Vol.-I, 1990, Vol.-II, 1993.

Secondary Books:

Upendranath Thakur, *The History of Suicide in India*, Delhi: Munshiram Manoharlal Oriental Publishers, 1963.

T.K.Tukol, *Sallekhana is Not Suicide*, L.D. Institute of Indology, L.D. Series-55, Ahmedabad, 1976.

References:

1. *Sarvarāthasiddhi* (commentary on *Tattvārtha Sūtra* of Pūjyapāda, 7. 22. 363.1; *Jainendra Siddhānta Kośa*, p.382
2. *Ratnakaraṇḍa Srāvakācāra*, See commentary on p.517
3. *Epigraphia Carnatica*, Vol. II, Inscription.1.
4. *Ibid*, Vol. II, Ins. 17
5. *Sallekhana is Not Suicide*, T. K.Tukol, L. D. Institute of Indology, L.D. Series-55, Ahmedabad, 1976
6. *Trīṣaṣṭīśalakāpuruṣacarita Mahākavyam*, Ed. Ramanik Vijayji and Vijayshila Chandrasuri, Kalikal, S.N.J.S.S.S. Amdavad, 2001., vth, viith, viiith vol., p,74, p,87.p104. p.112, p241.
7. *Antakṛtdaśāṅga Sūtra*, Ed. Madhukar Muni, Shri Agam Prakashan Samiti, Beawar, 2011, Introduction, pp .24-31
8. *Uvāsagadasāo*, Text. Hindi Version with Notes, Pramukha Vachaka Acharya Tulsi, Ed. by Muni Dulharaj, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 2019, Introduction, p.X.
9. *Uttarādhyayana Sūtra*, 8.20
10. *Ratnakaraṇḍa-śrāvakācāra* of Samantabhadra, verse, 122-129.
11. *Reality*, Canto, vii, *Sutra*, 22.
12. *Sāgāradharmāmṛta* of Pt. Āśādhara, viii. 20. *Ācārāṅgasūtra*, 8.6.105.

13. *Samaṇa Suttaṃ*, Ed. Sagarmal Jain, Trans. T. K. Tukol and K. K. Dixit. Bhagavan Mahavira Memorial Samiti, Bhagavan Mahavira Kendra, Delhi, 1st edn.1993, 2nd edn. 1999, verse, 574
14. *Ācārāṅgasūtra-bhāṣya*, Madhukar Muni, Agam Prakashan Samiti, Beawar, 2011, 8.8.1; p.395.
15. *Mūlācāra* of Kundakunda, Canto x, verse, 31.
16. Jacobi, *Sacred Books of the East, Jaina Sūtras*, Part-I, (Ācārāṅgasūtra), Atlantic Publications and Distributors, New Delhi, 1990, p 76-77.
17. *Uttarajjhayaṇāṇi*, 36.251
18. *Ācārāṅgasūtra*, 30.12.13.25, *Uttarajjhayaṇāṇi*, 8.11,
19. *Ratnakaraṇḍa-śrāvākācāra*, verse, 127,128.
20. *Uttarajjhayaṇāṇi*, Vol. II, notes, pp 263-264.
21. *History of Suicide in India*, Upendranath Thakur, p.19.
22. *Bhagavatī-ārādhanā*, Śivārya, Ed., Kailash Chandra Siddhanta Shastri, Jaina Samskriti Sanrakshak Sangha, Sholapur, 1978, Part-I, p.49, verse, 25.
23. *Puruṣārthasiddhyupāya* of Amṛtacandra, verse, 178
24. *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. XII, p.30.
25. *History of Suicide in India*, 183-184.
26. *Daśvaikālika Sūtra*, 6.10.
27. *Ācārāṅgasūtra*, 8. 8.3
28. *Uttarajjhayaṇāṇi*, Vol. II, 23.73
29. *Ibid*, 6.13.
30. *Tattvārthasūtra* of Umāsvāti, 7.8.
31. *Mūlārādhanā*, verse 7.
32. *Isāvāsyopaniṣad*, verse 3.
33. *Pārāśara Smṛti*, verse 4.1.2
34. *Samaṇa Suttaṃ*, Ed. Sagarmal Jain, p.209, verse, 571.
35. *Puruṣārthasiddhyupāya* of Amṛtacandra, verse, 178
36. *Mṛtyumahotsava*, verse 16, Commentary by Pt. Sada Sukha Dasji, Trans. VireṢra Prasad Jain, Shri Akhil Vishva Jaina Mission, Aliganj, Etā, UP. 2nd edn, 1958, p. 18

UNIQUE JAINA SITE DEOGARH AND ITS PĀRŚVANĀTHA IMAGES: SOME FEATURES

Dr. Shanti Swaroop Sinha

Deogarh in Lalitpur district of Uttar Pradesh was known in past mainly for the Gupta period Viṣṇu temple (earliest *Pañcāyatana* temple), popularly known as *Daśāvatāra* temple. But on the basis of researches and field works done by A. Cunnigham,¹ Klaus Bruhn² and M. N. P. Tiwari³ during the last 30 years, Deogarh came to be known also as an important, rather one of the most prolific, centre of Jaina Art and Culture in India. Deogarh has yielded about 40 Jaina temples of varying dimensions (none of them is huge), 10 *mānastambhas* (free standing pillars crowned by the figures of Jinas, *Ācāryas* and *Upādhyāyas* and showing at its base the figures of *yakṣīs* like Cakreśvarī, Rohiṇī, Ambikā, Padmāvatī) and more than two thousand independent Jaina images of Tīrthaṅkaras (or Jina), *Yakṣas* and *Yakṣīs*, Sarasvatī, Lakṣamī, *Kṣetrapāla* and, above all, the Jaina *Ācāryas*, *Upādhyāyas* and *Sādhus*.

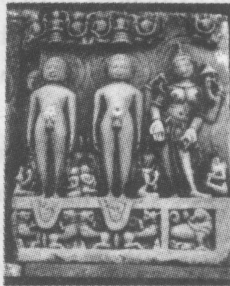
The Jaina sites usually developed under collective patronage of Jaina *Saṅgha* and mercantile community,⁴ which is true also about Deogarh and Khajurāho. The Śvetāmbara Jaina sites of Osiñā, Mt. Abu, Kumbhāriyā and Śatruñjaya during 8th - 18th century CE in Rajasthan and Gujarat also developed under such collective patronage. However, we have some inscriptional evidences at Deogarh as well to show some indirect association of Pratihāra, Chandella and Kalachuri rulers with the site during 8th and 13th century CE. This is indicated also by two inscriptions datable to *saṁvat* 919 (862 CE, in earliest Jaina temple of Deogarh, dedicated to Jina Śāntinātha) and *saṁvat* 1154 (1097 CE), which refer respectively to the reign of Gurjara-Pratihāra ruler Bhojadeva and Vatsarāja, the minister of Chandella king Kīrtivarman.⁵ The first inscription of *saṁvat* 919 (862 CE) found in Śāntinātha temple (Temple no. 12, fig. 01) provides the earliest date for the architectural and art activity at Deogarh in Jaina context.⁶

But architectural and sculptural examples stylistically suggest that the art activity in Jaina context commenced even before in 7th-8th century CE and continued up to at least 16th-17th century CE.



fig. 01- Śāntinātha temple (Temple no. 12), Deogarh (Lalitpur, U.P.), CE 862.

Deogarh was very important centre of *Sārasvata Sādhanā* (education and religious learning) and existence of strong Jaina *Saṅgha*, evidenced by the profuse number of images of Jaina *Ācāryas*, *Upādhyāyas*, *Bhaṭṭārakas*, *Sādhus* and *Sādhvis* who were living together at Deogarh for meditation, study and *Śāstra-carcā* (disputation). The figures of Sarasvatī and in one example (Temple no. 01) her rendering with the Jinas in *Tritīrthī* (fig. 02) image also reinforce the point.⁷ Sarasvatī is the personification of *Jina-vāṇī* (preaching of Jinas).



58. Tritīrthī Jina image with Sarasvatī,
Temple no. 2, 10th-11th cent. A.D.

fig. 02- *Tritīrthī* image, showing two Jinas and Sarasvatī (as *Śruta-Devatā*), Temple no. 02, Deogarh, 12th century CE.

The site was associated with Digambara sect which is usually believed to be non-liberal so far as endorsement of changes and innovations in traditional framework are concerned.⁸ But on the contrary Jaina vestiges of Deogarh distinctly reveal the manifold innovations, mainly in respect of creation of new concepts and their transformation into visual forms as icons suggestive of assimilation and fusion. It was done without violating the tradition or injunction of texts. Such innovations include rendering of Bharata, Bāhubalī, Jaina Ācāryas or *Upādhyāyas* and Sarasvatī in the *Tritīrthī* and *Caumukhī* Jina images. In the images of Bharata Munī and Bāhubalī (fig. 03) the features of Jina iconography (*trichatra* and other *prātihāryas*) are also shown to suggest their elevation to equal the Jinas.⁹ This was something unique of Jaina art of Deogarh.



56. Tritīrthī Jina image with Bahubali,
Temple no. 2, Deogarh, 10th-11th cent. A.D

fig. 03- Bāhubalī in *Tritīrthī* image, Temple no.2, Deogarh, 11th century CE.

After making a brief observation on the uniqueness of Deogarh as one of the most prolific Jaina sites in India, I shall now discuss about Pārśvanātha, 23rd Jina and also the real promoter of Jainism,¹⁰ who propounded the four main principles of Jainism known as *Cāturyāma-Satya* (truth), *Ahiṃsā* (non-violence), *Asteya* (non-stealing) and *Aparigraha* (non-acquisition). Pārśvanātha lived in c. eight century BCE and by the way of his association with snake-cult folk tradition was imbibed into the main stream of Jaina worship. He is provided mainly with seven hooded snake-canopy and rarely as per textual prescriptions, snake cognizance is shown on the throne,

the rendering of which however was regular feature with all other 23 Jinas. However sometimes the texts also provide three or eleven hooded snake canopy with Pārśvanātha, which is rarely shown in the images. In the images datable between second century BCE and sixth century CE Pārśvanātha was shown both with five and seven hooded snake canopy.¹¹ It may be noted that mostly the seven-hooded snake canopy is shown with Pārśvanātha.

The *yakṣa* and *yakṣī* associated with Pārśvanātha, according to texts, are respectively Dharaṇendra (or Pārśva) and Padmāvati, who are again related to *Nāga*-cult. Both the Śvetāmbara and Digambara texts refer to previous existence of Pārśvanātha in which he tried to save the lives of the snakes from the wood-fire. After death these snakes (*nāga-nāgis*) became the serpent king Dharaṇendra and serpent queen Padmāvati, and remembering the help and compassion of previous existence became the *Śāsanadevatās* of Pārśvanātha, when he attained Jina-hood. Both the *yakṣa* and *yakṣī* are shown on two sides of the pedestal of Pārśvanātha images, and are provided with snake-canopy overhead and snake in one or two hands. Thus the entire conception and iconography of Pārśvanātha developed in the background of folk worship of *Nāgas* to bring the masses closer to Jainism. Perhaps this was the reason that Pārśvanātha was accorded an exalted position both in north and south India.

We also find in Śvetāmbara¹² and Digambara¹³ texts the detailed mention of *upsargas* (infections) caused to Pārśvanātha during the course of his *tapas* (penance), in which Pārśvanātha remained unshaken. However in the images from Deogarh, we do not find the renderings of *upasargas*, which is surprising.

At Digambara Jaina site like Deogarh, Pārśvanātha with seven-hooded snake-canopy (figs. 05 & 06) is mostly depicted as standing with the flanking figures of Dharaṇendra and Padmāvati having either three or five hooded snake-canopy. Dharaṇendra is shown with folded hands while Padmāvati holds a long parasol, the top of which is shown above the snake hoods of Pārśvanātha. In such cases

Dharaṇendra is present both in the form of snake with seven-hoods spread over the head of Jina and also as a *yakṣa* in human form with folded hands. Surprisingly in few instances at Deogarh, Khajurāho and some other Digambara Jaina sites, in addition to above figures we also come across the figures of two-or-four-armed Dharaṇendra and Padmāvati at throne ends holding different attributes like snake, goad and noose.

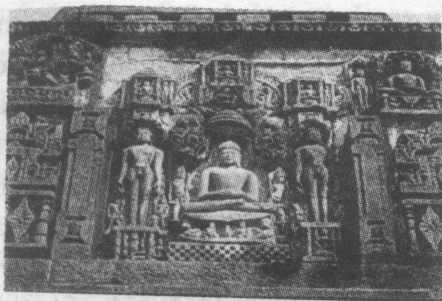


fig. 06- Seated Jina with flanking figures of Pārśvanātha and Supārśvanātha (in *kāyotsarga-mudrā* respectively with seven and five hooded snake-canopy), *Śikhara*, Temple no. 13, Deogarh, 11th century CE

Deogarh has yielded more than 50 images of Pārśvanātha, datable between ninth and 13th century CE. The number comes only next to the images of Rṣabhanātha. Several colossal images of 9th- 10th century depict Pārśvanātha as usual with seven-hooded snake-canopy and as standing in *kāyotsarga* but on simple pedestal without *Prātihārya* like- *Simhāsana* and even *Trichatra*. May be that these images represent Pārśvanātha a little before attaining Jina-hood. In most of examples sky-clad Pārśvanātha is shown in *kāyotsarga-mudrā*. On the modern boundary wall of the Temple no. 12 (*Śāntinātha* temple), maximum number of such images could be seen.¹⁴ In these examples on both the sides of Pārśvanātha, the flywhisk bearing attendants are shown who are provided with snake-canopy to establish their association with Pārśvanātha. In few examples the male attendant holds a flywhisk, while the female attendant on the other side is shown with *chatra* with its top over the head of Pārśvanātha.

Apparently these figures represent respectively Dharaṇendra *yakṣa* and Padamāvati *yakṣī*.

Another uniqueness is the beautiful and artistic delineation of the snake-coils all along the body of Pārśvanātha on the back, extending either up to knees or the feet. In two examples from Temple no. 06 and 09, the hanging hair-locks (*jaṭā*) are also shown on the shoulders of Pārśvanātha, which was exclusive feature of Rṣabhanātha images. It appears that the artist here has shown *jaṭās* to project the long passage of time of *tapas* of Pārśvanātha.¹⁵ In six examples of 10th - 12th century CE, the two-armed *yakṣa* and *yakṣī* are also shown on the pedestals, who do not exhibit the features of Dharaṇendra and Padmāvati as mentioned in the texts. However in two rare examples of 10th and 12th century (*sabhāmaṇḍapa* and enclosure wall of Temple no. 12) the *yakṣī* with Pārśvanātha, standing in *kāyotsarga* is Ambikā in place of Padmāvati, who holds bunch of mangoes (*āmralumbi*) and child (Ambikā is the *yakṣī* of 22nd Jina Neminātha). In another rare example of 10th century (Temple no. 22) over the head of Pārśvanātha, even snake-canopy is not shown, but on both the sides three-hooded snakes are shown, on the basis of which the identification with Pārśvanātha is certain. One more unique example of the 11th century (Temple no. 22) shows Pārśvanātha with seven-hooded snake-canopy and *chatra*, but in place of snake cognizance cock (*Kukkūṭa*) is shown on pedestal (fig. 04), which, according to Jaina texts, is the mount of Padmāvati *yakṣī*.¹⁶



fig. 04- Pārśvanātha (with unusual *kukkūṭa* cognizance), enclosure wall (west), Temple no. 12, Deogarh, 10th cent. CE.

To conclude it may be observed that the earliest collective representation of 24 *yakṣīs* is found in the *rathikās* of the facade of Śāntinātha temple (Temple no. 12, 862 CE).¹⁷ Equally unique is the mention of the names of *yakṣīs* under the respective figurers, which according to M. N. P. Tiwari, fully correspond with the list of the eighth century Digambara text *Tiloyapaṇṇatti*.¹⁸ Further in the images of Bāhubalī several innovations such as of associating *yakṣa* and *yakṣī* with him and showing Bāhubalī with Jinas in the *Tritīrthī* image (fig. 03) are also confined only to Deogarh.¹⁹ In Pārśvanātha images also several types of rendering are noticed in which mostly *yakṣa* and *yakṣī* figures and snake cognizance are not shown. Besides the independent images of Pārśvanātha several *Dvītīrthī* Jina images are also represented in Deogarh, wherein either two figures of Pārśvanātha, standing in *kāyotsarga-mudrā* are carved. Pārśvanātha with some other Jinas like Rṣabhanātha and Supārśvanātha (fig. 05) are also shown on same pedestal in same example of *Dvītīrthī* images.



fig. 05- Pārśva
verandah, Temple no. 11, Deogarh, 12th century CE.

Likewise in a unique *Tritīrthī* Jina image, carved on enclosure wall of Temple no. 12 (10th century CE), the figures of Neminātha (with conch cognizance), Pārśvanātha (with seven-hooded snake-canopy) and Mahāvīra (lion conizance) are carved together, who are the last three Jinas of the present *Avasarpiṇī* (aeon). In such examples where two or three Jinas were put together on single pedestal is suggestive of the equality of the all the three Jinas in terms of devotion and cultic worship.

References:

1. A. Cunningham, *Archaeological Survey of India Report*, 1862-64, Vol. 1-2.
2. Klaus Bruhn, *The Jina Images of Deogarh*, Leiden, 1969.
3. M. N. P. Tiwari, *Jaina Pratimāvijñāna*, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi, 1981.
4. M. N. P. Tiwari and S.S. Sinha, *Jaina Art and Aesthetics*, New Delhi, 2012, p. 34
5. M. N. P. Tiwari and S.S. Sinha, *Jaina Kalā Tīrtha: Deogarh*, Lalitpur, 2012 (3rd Edition), pp. 4-5
6. M. N. P. Tiwari and S.S. Sinha, *Jaina Art and Aesthetics*, p. 37
7. M. N. P. Tiwari and S.S. Sinha, *op.cit.*, p. 34
8. M. N. P. Tiwari and S.S. Sinha, *Jaina Kalā Tīrtha: Deogarh*, pp. 2-3
9. M. N. P. Tiwari and S.S. Sinha, *op.cit.*, pp. 105-112
10. M. N. P. Tiwari, *Jaina Pratimāvijñāna*, pp. 124-125
11. Up to at least c. sixth century CE, he was shown both with five (bronze image in the Prince of Wales Museum, Mumbai and the figures at Bādāmi and Aihole) and seven-hooded snake canopy (Mathurā, since first century BCE, *Jaina āyāgapaṭṭa* in the State Museum, Lucknow, Acc. No. J.253).
12. *Pāsanāhacariu* of Padmakīrti, CE 1077, 14.4-30; *Triṣaṣṭīśalākāpuruṣacaritra* of Hemacandra Sūri, 12th century CE
13. *Uttara Purāna* of Puṣpadanta, 73.139-40.
14. M. N. P. Tiwari and S.S. Sinha- *Jaina Kalā Tīrtha: Deogarh*, pp. 64-65
15. M. N. P. Tiwari- *Jaina Pratimāvijñāna*, p. 129
16. M. N. P. Tiwari and S.S. Sinha- *Jaina Kalā Tīrtha: Deogarh*, p. 65
17. M. N. P. Tiwari- *Jaina Pratimāvijñāna*, p. 67.
18. *Tiloyapaṇṇati* (of Yativṛṣabha, c. Eighth century CE) - 4.937. 39; M. N. P. Tiwari, *op.cit.*, pp. 67-68.
19. M. N. P. Tiwari- "A Note on Some Bāhubalī images from North India," *East & West*, Vol. 23, pt. 3-4, Sept.-Dec. 1973, pp. 347-53.

PRAVACANASĀRA AND VEDĀNTA THOUGHT

Dr. P. M. Upadhye

In the history of Jaina philosophy, *Pravacanasāra* of Kundakunda is considered to be one of the important Jaina Philosophical works especially among the Digambara School. It is equally true that Kundakunda who is the author of *Pravacanasāra* is looked upon as one next to the prophet Mahāvīra and a great Gaṇadhara Gautama. The contents of the work point out that the work is divided into 3 books, giving important lessons to a novice who is advised to maintain an undisturbed spiritual mood and to raise individual spirit to the level of universal self who is completely free from *karmas* and who is full of knowledge and happiness. This work is full of Jaina tenets which can be compared with Sāṅkhya and Vedānta thought. In this article an attempt is made in brief to study this aspect viz. Vedānta thought therein.

Vedānta is a wider term in its application to Indian philosophy but for our purpose it may be confined to the Upaniṣadic thought, which is also called the Vedānta throughout. In the major Upaniṣads like *Īśa*¹, *Kaṭha*², *Bṛhadāraṇyaka*³, etc. There are topics on the *Jīva* and *Ātman*, nature of *Brahman* and world etc. And it is firmly stated in all *Upaniṣads* that *Brahman* alone is omnipotent and omniscient⁴ where as *Jīva* is not so.

The *Jīva* is not able to realise its identity with *Ātman* due to ignorance or illusion or wrong notion often termed as *avidyā*⁵ (ignorance) in the *Upaniṣadic* language with this philosophical aspect of the *Upaniṣads* in mind, if we study the *Pravacanasāra*, we find therein the very echo of *Upaniṣadic* thought.

It is stated in the *Upaniṣad* that *Brahman* is *Satyam*, *Jñānam* and *Aanantam*⁶ and it is through knowledge one can achieve liberation. *Pravacanasāra*⁷ says that *Jīva* can attain *Mokṣa* with the help of *Darśana*, *Jñāna*, and *Cāritra*. Śaṅkarācārya also says '*jñānādeva tu kevalam*'.⁸ *Pravacanasāra*⁹ states that equilibrium is the state of *Ātman*

bereft of attachment and distress. In the *Pravacanasāra* it is stated that *Jīva* is affected by good or bad results.¹⁰ Yājñavalkya says ‘*Puṇyo vai puṇyena karmaṇā bhavati pāpaḥ pāpena iti.*’¹¹ This is quite identical thought in the *Upaniṣad* and *Pravacanasāra*. *Pravacanasāra* speaks of *ātma* as ‘*Sayambhū.*’¹² Śaṅkarācārya says ‘*tatraivaṁ sati brahmajñānamapi vastutantrameva; bhūtavastu viṣayatvāt.*’¹³ According to *Pravacanasāra* there is no physical pain or pleasure to a *kevalajñānin* since he is beyond all sense organs ‘*sokkhaṁ vā puṇa dukkhaṁ kevalañāṇissa ṇatthi dehagadaṁ.*’¹⁴ The *Upaniṣad* also speak of *jñānin* in the same manner.¹⁵ *Pravacanasāra* states that *jñāna* is the soul and there is no *jñāna* (knowledge) without soul- ‘*ñāṇaṁ appā tti madaṁ vaṭṭadi ñāṇaṁ viṇā ṇa appāṇaṁ.*’¹⁶ ‘*Satyam jñānam anantam*’¹⁷ this sentence of the *Upaniṣad* states that ‘the infinite (*ananta*) soul is of the very nature of Truth (*satya*), and knowledge (*Jñāna*).

Such examples can be multiplied to show comparative philosophical thought in the *Pravacanasāra* and *Upaniṣads* or Vedānta. There are other aspects like nature of matter etc. but to cover them all in a short article is not possible. It will need an independent study by itself.

As stated earlier there are comparative thoughts on soul etc. In the Vedānta and *Pravacanasāra*, this does not mean that Jain view is not different, it is obvious that Kundakunda will follow Jain philosophical thoughts, on such matters.¹⁸ In Vedānta *Brahman* who is one without second is alone omniscient (Chāndogya Upaniṣad 6/2/1) while in Jainism many spirits might function as omnipotent mutually inter depending without conflict, in all this, the realistic tone of Jainism is quite apparent. It is true that the Vedānta is idealistic in its philosophical approach.

It is generally believed that Kundakunda lived in the beginning of Christian era, as such, in that case, he could not be expected to know the full fledged developed Vedānta thought as found in the works of Śaṅkarācārya and Rāmānujācārya and other stalwarts in the field of Vedānta thought, who belonged to posterior period to

Kundakunda. It is a matter of wonder that *Pravacanasāra* echoed many Vedānta thoughts like identity of *Ātman* and knowledge, nature of a *jñānin* or of a *Jīva*. This fact reveals Kundakunda's penetrating insight in the field of Indian Philosophy in general and Jaina philosophy in particular. This would also indicate how great philosophers of the Vedānta school and Kundakunda echoed true pertinent thought on philosophical matters. This does not mean that there is a copying of each other, mystical thought is quite universal. Kundakunda is a Jaina sage and also a mystic, there is no wonder that his thoughts echoed some Upaniṣadic thought as seen earlier. This is indeed a great contribution of Kundakunda to Vedānta thought earlier to Śaṅkarācārya and other *ācāryas* in the history of Indian Philosophy.

References :

1. *Īsāvāsyopaniṣad*, 1.6
2. *Kāthopaniṣad*, 1/16-25
3. *Bṛihadāranyakopaniṣad*, 4/8-17, 2/4/5, 1/4/10, 2/5/19
4. *Nṛsin̄hopaniṣad*, 5/6
5. *Brahmāsūtra-Śāṅkara-bhāṣya*, 1/4/6/22
6. *Taittirīya Upa.* 2/1/1
7. *Jīvassa carittādo daṅsaṇa-ṇāṇappahāṇādo, Pravacanasāra- Kundakunda*, 1/6
8. *Sarvavedānta-siddhānta-sārasaṅgraha*, 170
9. *Mohakkhohavihīṇo pariṇāmo appaṇo hu samo, Pravacanasāra* 1/7
10. *Jīvo pariṇamadi jadā suheṇa asuheṇa vā suho asuho*, *Ibid*, 1/9
11. *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, 3/2/13
12. *Bhūdō sayamevādā havadi sayambhu tti ṇidittho, Pravacanasāra*, 1/16
13. *Brahmasūtra-Śāṅkara-bhāṣya-I/II/II*
14. *Pravacanasāra*, 1.20
15. *Kāthopaniṣad*, 1/1/12, *Munḍakopaniṣad*.. 3/2/9
16. *Pravacanasāra*, 1-27
17. *Taittirīya Upaniṣad*, 2/1/1
18. Dr. A. N. Upadhye, 'Introduction' to *Pravacanasāra*' p.3

PROBLEM OF SIMULTANEOUS OCCURRENCE OF JÑĀNA AND DARŚANA IN JAINISM

Dr. Shriprakash Pandey

The relation of *jñāna* and *darśana* has been a matter of great dispute among the Jaina scholars. Attributed to *Dravyārthika* and *Paryāyārthika*, two view-points dealing with cognition in general and particular, these two types of cognition are technically called in Jaina philosophy- *Jñāna* and *Darśana* respectively. In Indian philosophy, the word '*Darśana*' is generally used in three senses i.e. (I) visual perception (e.g. ghaṭa-darśana) (ii) direct cognition (e.g. ātma-darśana), (iii) a system of philosophy following a particular tradition (e.g. Nyāya-darśana, Vedānta-darśana etc.) However, two meanings of this word are peculiar to the Jaina tradition and are to be found in no other system; they are (i) faith (śraddhān) and (ii) cognition of the general (sāmānya-bodha) or bare cognition (ālocana-mātra). Thus in Jaina scriptures faith-in-faith (tattvaśraddhā) is called *darśana*; for example, *Tattvārtha-śraddhānam samyagdarśanam*.¹ Knowledge is the main feature that distinguishes two classes of Reality i.e. Soul and Non-soul. Accordingly it has been divided into Empirical and Transcendental knowledge. The question of knowledge apart from its logical or its epistemological considerations has three aspects: The first aspect is whether there is any permanent entity as the abode of knowledge, the second is related with knowledge as a faculty and the third is concerned with knowledge as cognition or function. Here this paper will deal with the occurrence of *Darśana* and *Jñāna* whether it comes in succession or simultaneously.

In Jainism, there has been three theories prevalent explaining the relation of *Jñāna* and *Darśana*- 1. *Kramavāda*, 2. *Yugapadvāda* and *Abhedavāda*.

*kei bhaṇānti jugavaṁ jānai pasati ya kevalī niyamā/
aṅṅe egaṅṅariyam icchānti sutovadesena/*²

According to *Kramavāda* theory, *Darśana* and *Jñāna* both come into existence one after another, hence the occurrence of both will

always be in succession. They maintain that both are conscious activities, and it is an Āgamic principle that two conscious activities cannot occur simultaneously. The *Āvaśyaka-niryukti* says that the even *kevalins* (omniscient being) cannot have two conscious activities simultaneously-*jugavaṃ do natthi uvaogā*.³ The *Āgamas*, therefore, unanimously admit the impossibility of the simultaneous occurrence of *jñāna* and *darśana*. The later Jaina scholars also admit the same in case of *chadmastha* (non-omniscient) but there is a controversy among them regarding the case of *kevalin*. Jinabhadraṇi Kṣamaśramaṇa and some others have been follower of this view.⁴

Yugapadvādis hold that these two types of cognition come into existence simultaneously, therefore there is no problem in occurrence of both simultaneously. As the light and heat of the Sun⁵ come into existence simultaneously, so as the *jñāna* and *darśana* both can occur simultaneously. The Digambara scholars⁶ unanimously hold that the *jñāna* and *darśana* of a *kevalin* occur simultaneously.

Whereas the *Abhedavādis*, the third one, hold that a *kevalin*'s *jñāna* and *darśana* are simultaneous or even that they are mutually identical and have no separate entity.⁷ Both *Jñāna* and *Darśana* are identical, hence there is no difference between the two. Siddhasena Divākara is the upholder of this view.

Unlike the *Āvaśyaka-niryukti*,⁸ Umāsvāti admits that the conscious activities manifesting themselves as *mati*, *śruta*, *avadhi* and *manahparyāya* occur in succession and not simultaneously.⁹ The conscious activity of the omniscient, possessed of integrated *jñāna* and *darśana*, however, in respect of 'pure knowledge' and 'pure intuition' which comprehend all objects and are independent, occur simultaneously in every point of time. *Svopajña-bhāṣya* of Umāsvāti maintains that knowledge (*jñāna*) as well as intuition (*darśana*), both of which are pure and perfect, are simultaneously present in the Jinas.¹⁰ It means that Umāsvāti admit the simultaneous occurrence of *jñāna* and *darśana*. Siddhasena Gaṇi,¹¹ commentator of *Tattvārtha-sūtra*, gives a different interpretation in accordance with *Āgamas*, although he refutes the concept of some old commentators interpreting the statement of *Āgamas* otherwise and denying succession of

conscious activities of a *kevalin*. The great Digambara Ācārya Kundakunda¹² clearly admits the simultaneous occurrence of *jñāna* and *darśana* of a *kevalin* and mentions that the *jñāna* and *darśana* of a *kevalin* occur simultaneously as the light and heat of the sun occurs. Pūjyapāda Devanandī¹³ follows to Kundakunda. He, interpreting *jñāna* as *sākāra* (determinate) and *darśana* as *anākāra* (indeterminate) says that they occur in succession in *chadmastha* (a person under the influence of obstructive *karmas*) and simultaneously in the *nirāvaraṇa* (a person completely free from the obstructive *karmas*).

The great logician Siddhasena Divākara for the first time refused to admit the separate entity of *jñāna* and *darśana* because of logical difficulty. Siddhasena Divākara, defining the two- *jñāna* and *darśana* says that:

'*Darśana*' is the cognition of the general and *jñāna* means the cognition of particular.

*janī samāṇṇagahaṇaṁ daśaṇameyaṁ viśesiyāṁ
doṣahaṁ vi ṇayāṇa eso paḍekkaṁ atthapajjāvo//*¹⁴

In Jainism the term *darśana* as used in the Jaina scriptures is a technical one. It has got two special meanings. One meaning of it, is Indistinct consciousness (*nirākāra-upayoga*) and the other is faith (*śraddhā*). As regards the first meaning, the meaning of *darśana* is not *Nirākāra-upayoga* which is totally different from distinct knowledge (*sākāra-upayoga*). But the knowledge (*jñāna*) can be from another point of view also styled as *darśana*.¹⁵

Siddhasena says that we can distinguish between *jñāna* and *darśana* up to the stage of *maṇḥparyāya*. In *Kevala-jñāna*, however, *jñāna* and *darśana* are identical.

*maṇapajjavanāṇanto ṇāṇassa ya darisaṇassa ya veseso/
kevalaṇāṇaṁ puṇa daśaṇaṁ ti ṇāṇaṁ ti ya samāṇaṁ//*¹⁶

According to Siddhasena Divākara, those who believe in the authority of the scriptures, maintain that the Jina does not know and intuit simultaneously, make their *Tīrthaṅkara* flout or subject of mockery. He argues that if *kevala-jñāna* dawns on the complete destruction of the relevant obscuring *karmas*, it stands to reason that *kevala-darśana*

also should dawn immediately upon the destruction of the relevant obscuring *karmas*. And as both the destructions are simultaneous, it logically follows that the dawning of *kevala-jñāna* and *kevala-darśana* comes together.

Haribhadra who wrote a commentary on *Nandīsūtra* on the lines of *cūrṇis*, Abhayadeva, the commentator of nine *Aṅgas* and Malayagiri who followed him, ascribe *sahavāda* (simultaneity of *darśana* and *jñāna*) to Siddhasena Divākara and attribute *Abhedavāda* to Vṛddhācārya. The commentator of *Sanmati-tarka*, Abhayadeva Sūri however, regards Siddhasena Divākara as the advocate of *Abhedavāda*. Upādhyāya Yaśovijaya is also seems to be quite definite on this point.

Siddhasena Divākara says that in the scriptures, *kevala-jñāna* has been said to have beginning but no end. Those who have any regard for the commandment of the *sūtra*, must pause and ponder over it.¹⁷ He asserts that admission of succession in the occurrence of *jñāna* and *darśana* implies the break of the continuity of both, which goes against the scriptures advocating continuity of *jñāna* and *darśana*. If the destruction of both is possible simultaneously, their emergence also must follow but it is already established that two conscious activities cannot occur simultaneously. If an omniscient soul knows all in one instant, he should continue to know all forever or otherwise he does not know all.

Siddhasena says, 'granted that *jñāna* is distinct and determinate while *darśana* is indistinct and indeterminate but in the case of person whose knowledge obstructions are absolutely removed there is no such thing as distinct and indistinct'.

*parisuddham sāyāraṃ aviyattam daṅṣaṇam aṅāyāraṃ/
na ya khīṇāvaraṇiṇi haṅdi vayaṇaviyappo na saṁbhavai//*¹⁸

These differences apply to the knowledge of imperfect beings, and not to that of liberated ones. And, hence there can be no distinction between *jñāna* and *darśana*. He examines both the theories of succession and simultaneity. If we go with the first one, the *kevalin* could not be held to speak out complete reality, because his statement, being in strict conformity with his awareness, would exclude the

object of *darśana* when it would synchronize with knowledge, and would exclude the object of *jñāna* when synchronizing with *darśana*. So far as the case of simultaneity of both is concerned, the difficulty of simultaneous statement of the contents of both would still remain. Omniscience would be only all conceived notion if it were admitted that the omniscient intuits the unknown and knows the un-intuited. The conception of separate entity of *jñāna* and *darśana* implies that the object of *darśana* remains forever untouched by *jñāna* and the object of *jñāna* remains forever untouched by *darśana* and consequently it follows that the whole reality ever remains unknown even to *kevalin*. Siddhasena hold that *darśana* is the cognition of external objects untouched by sense organs, provided the cognition does not cognize the past and future events by means of a *liṅga* (probans). The scripture do not recognize *darśana* in the case of *manahparyāya*, inasmuch as the *manahparyāya* cognizes only particular features of the mind-substance of others, and not its universal form. *Mati* and *śruta* have no corresponding *darśana*. In ethical field the term *darśana* is related with the manifestation of the natural quality of the soul. It is *samyak* (right) if the soul leans towards spiritual progress and believes in liberation as the highest aim of the life. It is *mithyā* (wrong) if the soul is engrossed in worldly pleasure goes astray from the ultimate goal. According to Siddhasena Divākara, *darśana* in the sense of attitude is to be included into *mati-jñāna*.

If we conclude the above discussion, Siddhasena Divākara seems to be more logical in dealing with this dispute on *Jñāna* and *Darśana*, by establishing his theory of temporal identity between the two.

References:

1. *Tattvārtha-sūtra, Umāsvāti*, 1.2.
2. *Nandīsūtraṃ* with *cūrṇi* by Devavācaka, Prakrit Text Society, Varanasi, 1966, 40.1, p. 28
3. (i) *Nandīsūtra*, Madhukar Muni, APS, Vyawar, 1982, p.65
(ii) *Āvaśyaka-niryukti, Sāmāyikādhyanaṃ*, Harsh Pushpamrita Granthmala, Lakhbaval, 1989, p. 96

4. *Nandīsūtra*, Madhukar Muni, p.65; *Viśeṣaṇavatī*, Jinabhadraṅṅi Kṣamāśramaṇa, verse 153-154, 193-195, 202, 203-6, 215-20.
5. *Ibid*. p. 65
6. *Jñānāvaraṇa darśanāvaraṇa antarāyatrayaṃ yugapadeṇa samayena...* *Dravya Saṅgrha*, Nemicandra, Comm. on 13/35, *Pravaçanasāra*, Param Shruta Prabhavaka Mandal, Agas,1984, verse, 160.
7. *Sanmati-tarka*, Siddhasena Divākara, Chapter II.
8. *Āvaśyaka-niryukti*, p. 96,
9. *Tattvārtha-sūtra*, commentary by Siddhasena Gaṅi. verse1.30-31.
10. *Svopajñā-bhāṣya* of Umāsvāti, Ed. Pt. Khubchanda Siddhanta Shastri, Shrimad Rajchandra Jaina Shastramala, Bombay-1932, verse-30-31.
11. *Matijñādiṣu caturṣu paryāyeṇc payogo bhavati, na yugapat/ Tattvārthāddhigamsūtram*, Siddhasena Gaṅi, Ed: Vijay Muni, Shripal Nagar Jaina Shvetambara Murtipujaka Derasar Trust, Walkeshwar, Mumbai, VS. 2049, commenrary on verse 1/31, p.110.
12. (i) *jugavaṃ vaṭṭai nāṇaṃ kevalaṇāṇissa daṇsaṇaṃ ca taḥā. Niyamasāra*, Kundakunda, Hindi Trans. Gyanmati Mataji, Digamabar Jaina Trilok Sansthan, Hastinapur, verse, 158, 160, pp. 430-434.
(ii) *jo ṇa vijāṇadi jugavaṃ atthe tikkalige tihuṇavatthe/ ravacanasāra*, 1/48, p.55.
(iii) *jāṇadi jugavaṃ samaṃtado savvaṃ// Ibid*, 1/47, p.54
13. *sākāraṃ jñānamākāraṃ darśanamiti tacchadmastheṣu krameṇa vartate/nirāvaraṇesū yugapat// Sarvārthasiddhi*, Pūjyapāda, Ed: Phoolchand Shastri, Bharatiya Jnanapith, 1991, 2/8, p.118
14. *Sanmati-tarka*, II,1, Siddhasena Divākara, Ed. Trans. Pt. Sukhlal Sanghvi, Gyanodaya Trust, Ahmedabad II. 1
15. English translation of *Ṣanmatitarka* by A. S Gopani, published by L. D. Institute of Indology, Ahmedabad-9, 2000 AD, p.72
16. *Ibid*, II,III
17. *Ibid*, II.7
18. *Ibid*, II.11, Also English Trans. of *Sanmati Tarka*, p. 52

विद्यापीठ के प्रांगण में

पार्श्वनाथ संग्रहालय के उच्चीकरण का कार्य प्रारम्भ

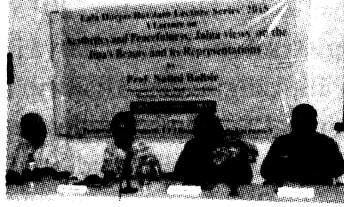
पार्श्वनाथ विद्यापीठ स्थित पार्श्वनाथ संग्रहालय के उच्चीकरण का कार्य प्रारम्भ हो गया है। आदरणीय श्री सुदेव बरार, सदस्य, प्रबन्ध समिति एवं श्री सतीश चन्द जैन, वित्त नियन्त्रक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने दिनांक २२ सितम्बर २०१५ को नवकार महामन्त्र का पाठ कर संग्रहालय के विस्तार भवन की आधारशिला रखी। इस अवसर पर संस्थान के संयुक्त निदेशक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय, शोध अध्येताद्वय डॉ. राहुल कुमार सिंह और डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय, पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. ओमप्रकाश सिंह, प्रशासनिक अधिकारी श्री राजेश चौबे के साथ संस्थान के अन्य कर्मचारीगण तथा इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कलाकेन्द्र के सम्मानित सदस्यगण उपस्थित थे। ध्यातव्य है कि पार्श्वनाथ संग्रहालय के उच्चीकरण हेतु संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार से अनुदान प्राप्त हुआ है।

लाला हरजसराय जैन स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत

प्रो. नलिनी बलबीर का व्याख्यान

दिनांक ३० सितम्बर २०१५ को पार्श्वनाथ विद्यापीठ की लाला हरजसराय जैन स्मृति व्याख्यानमाला का पुनः प्रारम्भ किया गया। व्याख्यानमाला के प्रथम पुष्प के रूप में डॉ. नलिनी बलबीर, प्रख्यात जर्मन इण्डोलॉजिस्ट एवं जैन-बौद्ध दर्शन, संस्कृत, पालि की विशिष्ट विद्वान्, सोरबोन यूनिवर्सिटी, पेरिस, का व्याख्यान *Aesthetics and Peacefulness: Jaina views on the Jina's Beauty and its Representations*: विषय पर आयोजित किया गया। व्याख्यानमाला सत्र की अध्यक्षता प्रोफेसर मारुतिनन्दन तिवारी, प्रख्यात प्रतिमाविज्ञानी एवं प्रोफेसर इमरीटस, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने की। मुख्य अतिथि थे प्रसिद्ध समाजसेवी श्री धनपत राजजी भंसाली। व्याख्यानमाला के सभी प्रमुख अतिथिगण एवं उपस्थित सभी विद्वज्जनों का स्वागत संस्थान के संयुक्त निदेशक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया। संस्थान का परिचय पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. ओमप्रकाश सिंह ने दिया। अपने व्याख्यान में डॉ. नलिनी बलबीर ने कहा कि तीर्थंकर महावीर सहित सभी जिन अथवा तीर्थंकरों की शरीर रचना उच्चकोटि की थी। जिन शरीर साधारण शरीर से विशिष्ट होता है। जिन के होठों की तुलना साहित्य में बिम्ब फल से की गयी है। वह नैसर्गिक रूप से सुन्दर होता है। सौन्दर्य और आत्मशुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

धर्म के अभ्यास से सौन्दर्य आता है। तीर्थंकर के ३४ अतिशयों में सुन्दर शरीर प्रथम है। आपने बताया कि जिन मूर्तियां अधिकतर ध्यानस्थ और कायोत्सर्ग मुद्रा में मिलती हैं। उनके चेहरे पर प्रशान्त रस का सद्भाव होता है जिससे देखनेवाला शान्ति का अनुभव करता है। अपने कथन को पुष्ट करने के लिये आपने अनेक साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्य दिये।



मंचस्थ प्रो० नलिनी बलबीर एवं अन्य

मुख्य अतिथि **श्री धनपत राज भंसाली** ने अपने उद्बोधन में बताया कि भारतीय संस्कृति चौंसठ कलाओं के माध्यम से दैनिक जीवन में आनन्द की उपासना करती रही है। मानव जीवन में कला का सदैव घनिष्ठतम सम्बन्ध रहा है। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति ही कला है। सौन्दर्य तो शिल्प का अपना होता ही है, और वह सभी जिन मूर्तियों में है, किन्तु जिन मूर्तियों को देखकर हम जिस शान्ति का अनुभव करते हैं वह अपने आप में अद्वितीय है। उसका कारण है कि हमारे जिन वीतराग, काम, क्रोध आदि कषायों से सर्वथा मुक्त हैं।

अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में **प्रोफेसर मारुति नन्दन तिवारी** ने बताया कि २४ जिनों की कल्पना जैन धर्म की धुरी है। जैन कला में २४ तीर्थंकरों एवं उनके यक्ष-यक्षियों का प्रभूत अंकन हुआ है। जिन मूर्तियां को अपने सौन्दर्य के लिये बाह्य अलंकरण की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनका शरीर कोई सामान्य शरीर नहीं होता। अलंकरण की आवश्यकता तो हम छद्मस्थ जीवों को होती है, जो वीतराग है, आप्तकाम है, जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसे कषायों को जीत लिया है वे आध्यात्मिक शरीर वाले होते हैं। उन्होंने डॉ. बलबीर को उनके सुन्दर व्याख्यान के लिये धन्यवाद दिया।

इस अवसर जो विद्वज्जन उपस्थित थे उनमें मुख्य थे- प्रो. कमलेश कुमार जैन, प्रो. सीताराम दुबे, प्रो. अरविन्द राय, डॉ. शान्तिस्वरूप सिन्हा, डॉ. रजनीकान्त त्रिपाठी, डॉ. प्रणति घोषाल, डॉ. मलय झा, डॉ. सुजीत चौबे आदि। इनके अतिरिक्त शोधछात्र तथा छात्रायें अधिक संख्या में उपस्थित थे।

कार्यक्रम का संचालन डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय ने किया तथा धन्यवाद ज्ञापन डॉ. राहुल कुमार सिंह ने किया।

**15 Day National Workshop on
Sources and Fundamentals of Sramana Tradition
(26th November-10th December, 2015)**

Parshwanath Vidyapeeth is going to organizing a 15 day National Workshop on **Sources and Fundamentals of Sramana Tradition** from 26th November to 10th December, 2015.

Eligibility for Registration: MA/Acharya in Philosophy, Sanskrit, Culture, Prakrit, Pāli, Linguistics, History, History of Arts, Hindi, Sociology and Political Science. Candidates with Ph.D., teaching and working in Jaina and Bauddha studies will be given preference.

Number of Participants 50

Eligibility for certificate: 80% attendance is essential.

Last date of the registration: 10th November, 2015

Registration fee: Rs. 1000.00/-

Contact: All communications in this regard should be addressed to

Dr. S. P. Pandey

Dr. Shrinetra Pandey

Director of the Workshop

Coordinator of the Workshop

Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, BHU, Varanasi-

221005. Mob. +91 9936179817, 8874000084, Ph: 0542-2575890

E-mail: pvpvaranasi@gmail.com, dr.snpandey1981@gmail.com

जैन जगत्

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा संगोष्ठी का सफल आयोजन

दिनांक ०२-०८-२०१५ को कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर द्वारा 'विशाल मूर्ति निर्माण परम्परा एवं मांगी तुंगी के ऋषभदेव' विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। प्रास्ताविक वक्तव्य में डॉ० अनुपम जैन, मानद सचिव, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ ने दुनियां भर में बनी विभिन्न विशाल जैन मूर्तियों की चर्चा की। इस संगोष्ठी के मुख्य अतिथि थे श्री सूरजमल बोबरा, निदेशक, ज्ञानोदय फाउण्डेशन। इस कार्यक्रम में प्रसिद्ध इतिहासविद् प्रो० जे० सी० उपाध्याय, पं० जयसेन जैन, संपादक - सन्मतिवाणी, डॉ० सुरेखा मिश्रा, पुस्तकालयाध्यक्ष इत्यादि ने अपने विचार व्यक्त किये। कार्यक्रम का संचालन डॉ० अनुपम जैन ने किया। इस अवसर पर अनेक विद्वान एवं विदुषी महिलायें उपस्थित रहे।

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक : प्राकृत की पुरुषार्थ कथाएँ, प्रो० प्रेमसुमन जैन, प्राकृत भारती अकादमी जयपुर एवं राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान, श्रवणबेलगोला, प्रथम संस्करण, २०१५, पृ० १५९, मूल्य १२०।

जैन आगम साहित्य में विद्यमान अनेक कथाबीजों का विकास परवर्ती कथाकारों द्वारा स्वतन्त्र कथाओं के रूप में किया गया है। अनेक कथाएँ लोक जीवन से ग्रहण की गयी हैं। आठवीं सदी में राजस्थान के प्राकृत कथाकार उद्योतन सूरि द्वारा विरचित प्राकृत साहित्य की अनुपम कृति 'कुवलयमालाकहा' देश-विदेश के प्राच्य भाषाविदों के बीच बहुत समादृत रचना है। इस ग्रन्थ में साहस, धैर्य, सदाचरण और पुरुषार्थ की अनुपम कथाएँ हैं जो व्यक्तित्व निर्माण में प्रेरणास्पद भूमिका निभाती हैं।

प्रो० प्रेमसुमन जैन ने 'प्राकृत की पुरुषार्थ कथाएँ' नामक अपनी कृति में कुवलयमाला से उन आख्यानों को चुनकर आधुनिक जनसाधारण की भाषा में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है, जो साहस, साधना और पुरुषार्थ को जगाने वाले कथानक हैं। इस पुस्तक में वर्णित छब्बीस कथाएँ इसप्रकार हैं- राजा दृढ़वर्मन का वात्सल्य, २. कुवलयचन्द्र का पुरुषार्थ, ३. राजा पुरन्ददत्त का वैराग्य, ४. चण्डसोम की वेदना, ५. मानभट का दंभ, ६. मायादित्य की कुटिलता, ७. लोभ देव की तृष्णा, ८. मोहदत्त का अनुराग, ९. सार्थवाह के सुख, १०. मूषक के जन्मान्तर, ११. सागरदत्त की प्रतिज्ञा, १२. सिंह का प्रतिबोध, १३. यक्षकन्या कनक प्रभा, १४. वन सुन्दरी ऐणिका, १५. शबरदम्पती की साधना, १६. राजा दर्पफालिक का अनुभव, १७. कुमारी कुवलयमाला से मिलन, १८. विवाह एवं स्वदेश गमन, १९. राजर्षि भानु के चित्रफलक, २०. धातुवादियों से भेंट, २१. पाँचों की पुनः स्वर्गयात्रा, २२. मणिकुमार का भवभ्रमण, २३. कामगजेन्द्र का कौतूहल, २४. वज्रगुप्त द्वारा नारी-मुक्ति, २५. स्वयंभूदेव और पक्षी जगत् एवं २६. महपथ का स्वप्न। साथ ही परिशिष्ट के रूप में कुवलयमाला के अनुच्छेद १-१२ का मूलपाठ हिन्दी अनुवाद के साथ दिया गया है।

इस ग्रन्थ की संक्षिप्त किन्तु प्रेरणास्पद कथाएँ, क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह के कलुषित आवेगों से त्रस्त संसारी जन को पुरुषार्थ से आलोकित पथ पर आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करती हैं। पुस्तक पाठकों में नैतिक आदर्शों और प्राकृत के अध्ययन में अभिरुचि उत्पन्न करेगा, ऐसा अभीष्ट है।

डॉ. राहुल कुमार सिंह

पुस्तक: **विशेषावश्यक भाष्य के गणधरवाद और निहववाद की दार्शनिक समस्याएँ और समाधान**, लेखिका - साध्वी विचक्षणश्रीजी, प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर एवं तारक गुरु ग्रन्थालय उदयपुर, मार्च २०१५, पेपर बैक, पृष्ठ ४५४, मूल्य - ₹० ४०० /-

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित 'विशेषावश्यकभाष्य' जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में पञ्चविध ज्ञान, द्वितीय खण्ड में गणधरवाद एवं तृतीय खण्ड में निहव की चर्चा है। अन्तिम दो खण्डों की विषयवस्तु को ही आधार बनाकर प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। यह ग्रन्थ ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय परिचयात्मक है। इसके अन्तर्गत जैन आगम साहित्य और आगमिक व्याख्या साहित्य का परिचय देते हुए आगमिक व्याख्या साहित्य में विशेषावश्यक भाष्य के स्थान एवं महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। द्वितीय अध्याय में प्रथम गणधर गौतम की आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी शंका एवं उसका समाधान प्रस्तुत है। तृतीय अध्याय में मुख्यरूप से आत्मा के बन्धन के हेतु के रूप में कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ अध्याय में लेखिका ने आत्मा और शरीर की भिन्नता-अभिन्नता पर विचार करते हुए अनेकान्त-दृष्टि के आधार पर दोनों के बीच कथञ्चित् भिन्नता और कथञ्चित् अभिन्नता को सिद्ध किया है। पञ्चम अध्याय में बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद की समीक्षा करते हुए बाह्य जगत् के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। लेखिका ने पुस्तक के छठे अध्याय में परलोक एवं पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार सातवें अध्याय में बन्धन और मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अष्टम अध्याय में पुण्य और पाप की अवधारणा को व्याख्यायित करते हुए आश्रव एवं बन्ध के रूप में पुण्य और पाप को स्पष्ट किया गया है। नौवें अध्याय में परलोक, स्वर्ग, नरक तथा पुनर्जन्म की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए आत्मा की परिणामी नित्यता को रेखांकित किया गया है। दसवें अध्याय में निहव का स्वरूप, जमालि का बहुतरवाद, आषाढभूति का अव्यक्तवाद, तिष्यगुप्त का चरम प्रदेशीय जीववाद, अश्वमित्र का समुच्छेदवाद, आर्य गंग का द्विक्रियाउपयोगवाद, रोहगुप्त का त्रैशिकवाद, एवं गोष्ठामहिल के अबद्धिकवाद की स्थापना एवं समीक्षा की गयी है। अन्तिम एवं ग्यारहवें अध्याय में ग्रन्थ के विवेच्य विषय का संक्षिप्त निष्कर्ष दिया गया है। साध्वी श्री विचक्षणश्री जी ने इन प्रमुख दार्शनिक समस्याओं एवं उनका समाधान प्रस्तुत कर दर्शन के क्षेत्र में अप्रतिम योगदान दिया है। आशा है यह कृति दर्शन जगत् के अध्येताओं के लिए लाभप्रद सिद्ध होगी।

डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय
